रूह की राहें

सीए (डॉ.) गौतम कोठारी
डी.लिट. 'शफक'

BlueRose ONE.com
Stories Matter
NewDelhi • London

BLUEROSE PUBLISHERS
India | U.K.

Copyright © CA(Dr.) Gautam Kothari D.Litt. 'Shafq' 2026

All rights reserved by author. No part of this publication may be reproduced, stored in a retrieval system or transmitted in any form or by any means, electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without the prior permission of the author. Although every precaution has been taken to verify the accuracy of the information contained herein, the publisher assumes no responsibility for any errors or omissions. No liability is assumed for damages that may result from the use of information contained within.

BlueRose Publishers takes no responsibility for any damages, losses, or liabilities that may arise from the use or misuse of the information, products, or services provided in this publication.

BlueRose ONE.com
Stories Matter
NewDelhi • London

For permissions requests or inquiries regarding this publication, please contact:

BLUEROSE PUBLISHERS
www.BlueRoseONE.com
info@bluerosepublishers.com
+91 8882 898 898
+4407342408967

ISBN: 978-93-7542-268-6

Cover Design: Aafiya Saifi
Typesetting: Manisha Rawat

First Edition: April 2026

प्रस्तावना: 'रूह की राहें'

'रूह की राहें' कोई साधारण काव्य-संग्रह नहीं - यह एक आत्मिक यात्रा है, उस भीतर के संसार की ओर, जहाँ सवाल भी मौन में पनपते हैं और उत्तर भी सन्नाटे में झांकते हैं। यह पुस्तक एक ऐसी दुनिया की दस्तक है जहाँ हर पाठक स्वयं को टटोलता है - अपने एहसासों में, अपने अकेलेपन में, अपने सबसे गहरे सच में। इस संकलन को केवल लेखनी से नहीं, मन की आग, आत्मा की राख, और अनुभवों की ठंडी छाँव से रचा है। यह पुस्तक समय के साथ पकते हुए भावों की बुनावट है - न वह जो एक झोंक में लिखा गया हो और न वह जो दिखावे के लिए सजा हो। यह विरल अनुभूतियों की परतों से बुनी गई चादर है, जो हर पाठक को भीतर तक सर्द और फिर गर्म कर जाती है।

पुस्तक की संरचना

'रूह की राहें' चार भावभूमियों में विभक्त है, जो जीवन के चार अलग-अलग स्वरूपों का साक्षात्कार कराती हैं 'साँसों की स्याही' - यह उन क्षणों को समर्पित है जहाँ शब्द सांसों के साथ बहते हैं। प्रेम, प्यास, दूरी और प्रतीक्षा जैसे विषयों पर आधारित कविताएँ यहाँ मन की नमी बनकर उतरती हैं 'धूप के पीछे की छाँव' - अनुभूतियाँ जहाँ जीवन के संघर्ष, अकेलापन और आत्ममंथन दिखाई देता है। शायरी और मुक्तक, यथार्थ की तपती ज़मीन से उठते हैं पर आशा की छाँव भी देते हैं

'रूह की सीढ़ियाँ- कुछ ग़ज़लें एक गहरी दार्शनिकता लिए हुए है। इसमें शायर आत्मा से संवाद करता है, खुद को टटोलता है, और कभी ईश्वर से, कभी नियति से सवाल करता है। यहाँ से ग़ज़लें सिर्फ शेर नहीं, आत्मा की सीढ़ियाँ बन जाती हैं

'अंतस का उजास'- कुछ ग़ज़लों में प्रकाश का परिचय है। यह वह जगह है जहाँ लेखक और पाठक दोनों उस रोशनी से मिलते हैं जो बाहर नहीं, भीतर जल रही होती है - आत्मस्वीकृति, मुक्ति और मौन के रूप में है।

लेखक की वैचारिक यात्रा

यह संग्रह किसी एक रचना-काल का परिणाम नहीं, बल्कि वर्षों की आत्मिक प्रक्रिया की उपज है। इस लेखन में मैंने जीवन को केवल जिया नहीं, सुनकर, सहकर, और सहलाकर जिया है। शोर में सन्नाटा ढूंढा है, और सन्नाटे में भी शेर रच दिए हैं। कभी शहरों की भीड़ से, कभी आत्मा की तन्हाई से, कभी रिश्तों की उलझनों और कभी खुद की सुलझनों से उपजे विचार इन पंक्तियों में ढले हैं। इसलिए यह पुस्तक न तो पूरी तरह कविता है, न ग़ज़ल - यह रूह की भाषा में लिखा एक संवाद है।

‘रूह की राहें’ उस पाठक के लिए है, जो अपने भीतर झाँकने से डरता नहीं, जो कविता को अल्फ़ाज़ से ज़्यादा एहसास समझता है, और जो यह जानता है कि -कभी-कभी, सबसे लंबी यात्रा सिर्फ भीतर की होती है।

‘शफ़क़’

अनुक्रमणिका

ग़ज़ल: 'रूह की राहें' 1

ग़ज़ल: 'उजाले का सफ़र' 4

ग़ज़ल: 'उम्मीदों की लौ' 6

ग़ज़ल: 'ज़िंदगी की नई समझ' 8

ग़ज़ल: ''दर्द से दुआ तक: एक रूहानी सफ़र'' 10

ग़ज़ल: 'रिश्ता उजालों से' 12

ग़ज़ल: 'राहों से राब्ता' 14

ग़ज़ल: 'वक़्त नहीं' 16

ग़ज़ल: 'तक़ाज़ा ए वक़्त' 18

ग़ज़ल: 'नूर ए नफ़स' 20

ग़ज़ल: 'झुके तो नहीं' 22

ग़ज़ल: 'वही समझता है' 25

ग़ज़ल: 'तमीज़-ए-गुफ्तगू' 28

ग़ज़ल: 'और किसी से मत कहना' 30

ग़ज़ल: 'क़र्ज़ बाक़ी हैं' 33

ग़ज़ल: 'समझ' 35

ग़ज़ल: 'राह-ए-रूह 38

ग़ज़ल: 'मौत से पहले नाम है' 40

ग़ज़ल: 'रूह की विरासत: अनदेखी छवियों की तलाश' 42

ग़ज़ल: 'गिनती बोलती है' 45

ग़ज़ल: 'वक़्त रेत-सा फिसलता है' 48

ग़ज़ल: 'चराग़-ए-रूह' 51

ग़ज़ल: 'तेरे अक्श से बात करनी है' 53

नज़्म: 'बस यूँ ही... (एक बेवजह सी ज़िंदगी)' 55

ग़ज़ल: ‘कुछ कर गुज़र’ 58
ग़ज़ल: ‘देखते रह गए…’ 60
ग़ज़ल: ‘ख़ुशफ़हम ही सही’ 62
ग़ज़ल: ‘नसीहत नस्लों को’..65
ग़ज़ल: ‘ओ सोने से पहले बहुत दूर जाना’ 68
ग़ज़ल: ‘बदलते चेहरे’ 71
ग़ज़ल: ‘रुख़ की रवानी’ 74
ग़ज़ल: ‘सुकून-ए-तसव्वुर’ 77
ग़ज़ल: ‘सुकून’..79
ग़ज़ल: ‘वक़्त का दस्तूर’ 81
ग़ज़ल: ‘नेकी और पूछ-पूछ’ 83
ग़ज़ल: ‘बना रहूँ यादों में’ 86
ग़ज़ल: ‘माँ - हर राह की रौशनी’ 88
ग़ज़ल: ‘सुकून की तलाश’..90
ग़ज़ल: ‘मैं चलता हूँ सूरज से आँख मिलाकर’ 92
ग़ज़ल: ‘ज़िंदगी, एक रूहानी सफ़र’ 94
ग़ज़ल: ‘एक घर की गूँज’ 96
ग़ज़ल: ‘मैं एक दुरुश्त खय़ाल हूँ’ 98
ग़ज़ल: ‘बग़ावत भी दुआ है’ 100
ग़ज़ल: ‘ हौसले की ज़बान’ 103
ग़ज़ल: ‘ मैं गुनहगार हूँ ‘..105
ग़ज़ल: ‘कोशिशों के आगे मुक़द्दर झुकता है’ 107
ग़ज़ल: ‘ये ख़ामोशियाँ’..110
ग़ज़ल: ‘तिश्नगी की तह में’ 112
ग़ज़ल: ‘ सिला-ए-सफ़र’..114
ग़ज़ल: ‘अंदाज़-ए-ज़ुबाँ - एक फन, एक फ़लसफ़ा’ 116

ग़ज़ल: 'ख़ामोश रिश्ते' 118
ग़ज़ल: 'रूह की मंज़िल'....................120
ग़ज़ल: ' हदों की हिफ़ाज़त'....................122
ग़ज़ल: 'कभी हार कर भी देख…' 124
ग़ज़ल: 'मंज़िल बुलाती है' 126
ग़ज़ल: 'मैं बहु जन्मा हूँ' 128
ग़ज़ल: 'ये निशान बोलते हैं' 130
ग़ज़ल: ' रहगुज़र-ए-शुकर' 132
ग़ज़ल: "देने का सुकून"....................134
ग़ज़ल: 'अनजान रिश्ता' 136
ग़ज़ल: 'एहसास पढ़ लिया कर'....................138
ग़ज़ल: 'रौशनी आती रही है' 140
ग़ज़ल: 'नज़र का आईना' 142
ग़ज़ल: 'सदा की गूँज'....................144
ग़ज़ल: 'तजल्ली-ए-रूह' 146
ग़ज़ल: 'जो अधूरा था कभी…'....................148
ग़ज़ल: 'ख़ुद से बात कर …' 150
ग़ज़ल: 'वक़्त की हसरत' 152
ग़ज़ल: 'ज़िंदगी'....................154
ग़ज़ल: 'ख़ामोशी का हुनर'....................156
ग़ज़ल: 'सच की रौशनी'....................158
ग़ज़ल: 'शम्अ-ए-उम्मीद'....................160
ग़ज़ल: 'बदलाव की रोशनी' 162
ग़ज़ल: 'उम्र की ख़ामोश ख़्वाहिशें' 164
ग़ज़ल: 'जो छूट गए…' 167
ग़ज़ल: 'ख़ामोशी की तहें' 169

ग़ज़ल: 'रूह की ख़ुशबू' 171
ग़ज़ल: 'सवालों का सफ़र' 173
ग़ज़ल: 'फ़र्ज़ ए रौशनी' 175
ग़ज़ल: 'पत्थर की रौशनी' 177
ग़ज़ल: 'रोज़ की रफ्तार में…' 179
ग़ज़ल: 'अपना आसमान' 182
ग़ज़ल: 'सुकून की परछाइयाँ' 184
ग़ज़ल: 'रुख़्सत की वसीयत' 186
ग़ज़ल: (लेखन को समर्पित - 'स्याही में भीगे जज़्बात') 188
ग़ज़ल: 'फ़ानी वजूद' (नश्वर अस्तित्व) 190
ग़ज़ल: 'ख़्वाब का सफ़र' 192
ग़ज़ल: 'शब-ए-फ़िराक़ की दस्तक' 194
ग़ज़ल: 'ख़ौफ़ से आगे ज़िंदगी' 196
ग़ज़ल: 'ख़ौफ़ से आगे ज़िंदगी' 197
ग़ज़ल: 'उम्मीद का एक दिया' 198
ग़ज़ल: 'दुआ का असर' 200
ग़ज़ल: 'लकीरों के उस पार' 202
ग़ज़ल: 'जुस्तुजू क्या है?' 204
ग़ज़ल: 'रवायत-ए-मुलाक़ात' 206
ग़ज़ल: 'मुस्कुराहट की पनाह' 208
ग़ज़ल: 'रह-ए-यक़ीन' 210
ग़ज़ल: 'रूह-ए-वक़्त' 212
ग़ज़ल: 'सफ़र का इकरार' 214
ग़ज़ल: 'माजरा क्या है' 216
ग़ज़ल: 'ज़रूरतों की गिरह' 218

ग़ज़ल: 'रुह की राहें'

प्रस्तावना:

यह ग़ज़ल एक ऐसी आंतरिक यात्रा का दस्तावेज़ है, जो आँधियों से डरती नहीं, बल्कि उन्हीं के बीच उड़ान का ज़िक्र करती है। यह उन जज़्बातों की आवाज़ है, जो टूटने के बाद भी झुकते नहीं, बल्कि टूटकर और निखरते हैं। 'शफ़क़' की इस रचना में हर शेर एक सजग आत्मा की पुकार है - जो दर्द को समझती है, मगर उसे शिकायत नहीं बनाती; जो ग़ैरों की नज़र में भी अपनापन खोजती है, और हर रुखेपन में भी प्यार की नमी तलाशती है। यह ग़ज़ल बताती है कि अँधेरे में चिराग़ जलाने का हौसला, और ग़म में भी उम्मीद बुनने की चाह, किसी चमत्कार की मोहताज नहीं, बल्कि एक सच्चे दिल की सादगी में ही छिपी होती है। यह काव्य-सफर उन सभी के लिए है जो ठुकराए गए, मगर खुद से जुड़े रहे; जिन्होंने तन्हाई में भी सहर की बात की, और हर टूटी राह पर फिर से चलने का हौसला पाला।

ग़ज़ल: रूह की राहें

आँधियों ने रोका फिर भी हमने परवाज़ की
रेत के साहिल पे भी कश्तियों की बात की

जब दुआओं से न बदली वक़्त की सूरत
आँसुओं से ही सही, मुस्कुराने की बात की

जिनके हर लफ़्ज़ में थीं तोहमतों की धारियाँ
हमने उन होठों से भी प्यार की बात की

किए हैं रोशन चिराग़ों से ज़्यादा दिल कई
अँधेरों के दरमियाँ रौशनी की बात की

हर शिकस्त ओ ग़म को सीढ़ियाँ माना हमने
हौसलों के पंख लेकर उड़ानों की बात की

जब लगा हर इक रास्ता थम सा गया
हमने फिर मोड़ पर नई राह की बात की

जिनकी नज़रों में कभी थे हम सिरे से ग़ैर भी
उन्हीं आँखों में फिर पहचान की बात की

दर्द जब हद से बढ़ा, लुत्फ़ का रुख़ कर गया
हमने तन्हाई में भी सहर की बात की
ज़ख़्म को ढाँपा हँसी से और कुछ यूँ किया
आईनों से ही हया और वफ़ा की बात की

हर रौशनी को बचाया अँधेरों के वास्ते
हर ग़लत सोच में भी सच की बात की

जिन राहों पर कभी हौसले मर से गए
हमने फिर से वहाँ चलने की बात की
वक़्त ने जब भी किया हमें ख़ुद से जुदा
हमने फिर अपने ही साए की बात की

जिसको ठुकराता रहा पूरा शहर नफ़रत में
उस शख़्स में भी कुछ अच्छाई की बात की

बिखरी हुई ज़िंदगी के हर उस मोड़ पर
हमने फिर इक नई निशानी की बात की

फूल से दिखते थे लेकिन चुभे हर तरफ़
हमने काँटों में भी नरमाई की बात की

'शफ़क़' हर चोट को ताबीर में ढालते गए
हमने हारे हुए पल में वफ़ा की बात की

परवाज़-उड़ान
साहिल -नदी का किनारा
तोहमतों -इल्ज़ाम
धारियाँ -दाग़
शिकस्त -हार

लुत्फ़- मजा
सहर-सुबह
हया -शर्म, लज्जा
वफ़ा - निष्ठा
ताबीर-व्याख्या, फ़लसफ़ा

ग़ज़ल: 'उजाले का सफ़र'

प्रस्तावना:

यह एक ऐसी रचना है, जो मानवीय भावनाओं, संघर्षों और आशा के अटूट विश्वास को शब्दों के माध्यम से उकेरती है। इस ग़ज़ल में जीवन के सफर को एक प्रतीकात्मक यात्रा के रूप में प्रस्तुत किया गया है, जिसमें अंधेरों और उजालों का द्वंद्व, टूटते-बिखरते सपनों के बीच नई उम्मीदों का जन्म, और ठोकरों के बावजूद मुस्कुराने की जिजीविषा स्पष्ट रूप से झलकती है। प्रत्येक शेर एक गहन दार्शनिकता और संवेदनशीलता के साथ मानव मन की गहराइयों को छूता है, जो पाठक को आत्मचिंतन और प्रेरणा की ओर ले जाता है।
यह ग़ज़ल न केवल काव्यात्मक सौंदर्य का नमूना है, बल्कि यह जीवन की कठिनाइयों में भी आशा की किरण तलाशने की कला सिखाती है। रौशनी, अंधेरा, प्यास, और जुगनुओं जैसे प्रतीकों के माध्यम से कवि ने जीवन के उतार-चढ़ाव को एक सूक्ष्म और भावपूर्ण ढंग से व्यक्त किया है। यह रचना पाठकों को न केवल भावनात्मक रूप से जोड़ती है, बल्कि यह भी दर्शाती है कि हर मुश्किल में एक नया रास्ता, एक नया हुनर, और एक नया उजाला छिपा होता है।
यह ग़ज़ल हर उस व्यक्ति को समर्पित है, जो अपने सफर में ठोकरों से डरता नहीं, बल्कि उन्हें अपनी ताकत बनाता है। यह एक ऐसी काव्य यात्रा है, जो हर पाठक को अपने भीतर के जुगनू को तलाशने और अपने उजाले का सफर शुरू करने की प्रेरणा देती है।

ग़ज़ल: 'उजाले का सफ़र'

रौशनी से रौशनी तक एक सफ़र अपना भी है
हर अंधेरे में कहीं इक रहगुज़र अपना भी है

ख़्वाब टूटा तो नयी परछाइयाँ बसने लगीं
टूट कर बिखरा तो देखा एक घर अपना भी है

जिन सियाह रातों ने हमसे राह छीनी थी कभी
उनके सीने में छुपा कोई सहर अपना भी है

पाँव छाले खा गए, रुख़्सार पर धूलें चढ़ीं
फिर भी कहता है ये दिल-इक बहर अपना भी है

ठोकरों ने दे दिए हैं लाख रोने के सबब
मुस्कुराने का मगर इक बावर अपना भी है

चोट खा कर भी थमे कब कारवाँ उम्मीद के
हर कड़ी ठोकर में छुपा इक हुनर अपना भी है

ख़ाक पर चल कर उठाया है लहू से आशियाँ
टूटते सपनों में भी इक बुनकर अपना भी है

कुर्बतें कम थीं मगर आवाज़ दिल से दिल मिली
भीड़ में तनहा नहीं था इक रहगुज़र अपना भी है

प्यास की शिद्दत में भी दिल ने दुआ माँगी वही
जिस नदी के पास से गुजरा सफर अपना भी है

'शफ़क़' हर मोड़ पे रोशन किया है दिल का दिया
इस सफ़र में जुगनुओं सा हमसफ़र अपना भी है

रहगुज़र: रास्ता, पगडंडी
सियाह: काला या घना अंधेरा
सहर: सुबह, प्रातःकाल
बहर: लहर या बहाव (यहाँ नई राह या मंज़िल का प्रतीक)
बावर: विश्वास, भरोसा
कारवाँ: यात्रा करते लोगों का समूह
हुनर: कला या किसी काम में दक्षता
आशियाँ: घर या बसेरा
बुनकर; रचने वाला, बुनने वाला
कुर्बतें — निकटता या पास होने का भाव
तनहा: अकेला
शिद्दत: तीव्रता या गहराई

ग़ज़ल: 'उम्मीदों की लौ'

प्रस्तावना:

उम्मीदों की लौ' एक ऐसी ग़ज़ल है, जो जीवन के संघर्षों, टूटन और दर्द के बीच भी आशा की अनमोल लौ को जीवित रखने की प्रेरणा देती है। यह रचना मानव मन की उस अटूट शक्ति को रेखांकित करती है, जो हर अंधेरे में उजाला, हर ठोकर में हौसला, और हर टूटन में नया सपना तलाश लेती है। प्रत्येक शेर में गहन भावनात्मक गहराई और काव्यात्मक सौंदर्य का समन्वय है, जो पाठक को न केवल आत्मचिंतन की ओर ले जाता है, बल्कि उसे जीवन की कठिनाइयों में भी मुस्कुराने का हौसला देता है।

इस ग़ज़ल में प्रतीकों और बिंबों के माध्यम से जीवन की जटिलताओं को सरलता से व्यक्त किया है। चाहे वह टूटते रिश्तों की राख में नमी की खोज हो, सर्द पलकों पर सपनों का संजोना हो, या सूनी गलियों में उजाले की तलाश, हर पंक्ति एक नई प्रेरणा जगाती है। यह ग़ज़ल उन सभी के लिए है, जो जीवन की आँधियों में अपनी रौशनी को बचाए रखते हैं और हर शिकस्त को ताज में बदलने का जज़्बा रखते हैं।

'उम्मीदों की लौ' न केवल एक काव्य रचना है, बल्कि एक दर्शन है, जो सिखाता है कि दुख और निराशा के बीच भी आशा की छोटी-सी लौ को जलाए रखना ही जीवन का असली मोल है। यह ग़ज़ल हर पाठक को अपने भीतर की उस लौ को पहचानने और उसे प्रज्वलित रखने की प्रेरणा देती है, जो अंधेरों को चीरकर उजाले की ओर ले जाती है।

ग़ज़ल: 'उम्मीदों की लौ'

छूटी उम्मीदों से इक नया सपना सँजोते हैं
हम अंधेरों के भी सीने में उजाला सँजोते हैं

पाँव छाले खा गए फिर भी सफ़र चलता रहा
हर ठोकर में नया इक हौसला हम सँजोते हैं

टूटते रिश्तों की राखों में भी ढूँढते हैं नमी
हम बिखरते वक़्त में भी हर भरोसा सँजोते हैं

ख़्वाब घायल हो गए मौसम की सर्दी देखकर
हम मगर सर्द पलकों पर भी सपना सँजोते हैं

ज़ख़्म खा कर भी मुस्कराते रहे हम सदा
दर्द की तहजीब में इक नयी सोच सँजोते हैं

सूनी गलियों से गुजरे हैं तो लौटे कुछ लेकर ही
हम उदासी की सड़क पर भी उजाला सँजोते हैं

धूप में तपते रहे फिर भी न बुझ पाई तलाश
हम तपिश के दरमियाँ भी इक छाँव सँजोते हैं
छीन लेती है कई बार आँधियाँ हमारी रौशनी
फिर भी दिये से नयी लौ का इरादा सँजोते हैं

डूबते सूरज के पीछे भी नया सवेरा है छुपा
हम अंधेरी शाम के दामन में सवेरा सँजोते हैं

'शफ़क़' हर ठोकर को भी ताज बना लेते हैं हम
हर शिकस्ते दिल से फिर इक ताजगी सँजोते हैं

तहजीब: शालीनता
तपिश के दरमियाँ: तेज गर्मी के बीच
शिकस्ते दिल: हारा हुआ मन

ग़ज़ल: 'ज़िंदगी की नई समझ'

प्रस्तावना:

ज़िंदगी की नई समझ' की एक ऐसी ग़ज़ल है, जो जीवन के प्रति एक नया दृष्टिकोण और गहन दार्शनिक समझ को शब्दों में पिरोती है। यह रचना जीवन के उतार-चढ़ाव, दुख-सुख, और अंधेरे-उजाले के बीच एक संतुलित और सकारात्मक नज़रिए को प्रस्तुत करती है। प्रत्येक शेर में जीवन की कठिनाइयों को स्वीकारते हुए उन्हें एक नए अर्थ के साथ अपनाने की कला झलकती है, जो पाठक को आत्ममंथन और प्रेरणा की ओर ले जाती है।

इस ग़ज़ल में जीवन की जटिलताओं को सरलता और संवेदनशीलता के साथ उकेरा है। चाहे वह ठोकरों को सबक समझना हो, दर्द को हँसी में बदलना हो, या तन्हाई को नवीन सदा के रूप में अपनाना हो, यह रचना हर परिस्थिति में आशावाद और आत्मविश्वास की सीख देती है। ग़ज़ल के प्रतीक और बिंब, जैसे अंधेरे को उजाला समझना या सन्नाटों में सदा सुनना, जीवन की गहराइयों को छूते हैं और पाठक को अपने नज़रिए को बदलने की प्रेरणा देते हैं।

'ज़िंदगी की नई समझ' केवल एक काव्य रचना नहीं, बल्कि एक जीवन दर्शन है, जो सिखाता है कि हर मुश्किल में एक सबक छिपा है और हर अंधेरे में एक उजाला। यह ग़ज़ल उन सभी के लिए है, जो जीवन की चुनौतियों को नई नज़र से देखना चाहते हैं और अपने सफर को एक कारवाँ की तरह जीना चाहते हैं। यह रचना पाठकों को अपने भीतर की ताकत को पहचानने और हर हाल में मुस्कुराने की प्रेरणा देती है।

ग़ज़ल: 'ज़िंदगी की नई समझ'

जो ज़िंदगी कल तलक लगती थी इक सज़ा
जी रहे हैं रब-ए-अलम की मर्जी समझकर

हर फिसलन में डूब जाने से डरते थे
अब तैरते हैं उसी को झील समझकर

जो ग़म थे कभी, अब हैं साथी हमारे
सीखा है जीना उन्हें अपना समझकर

हर ठोकर ने सिखाया है चलना हमें
उन्ही राहों को चुना है सबक़ समझकर

अब न शिकवा है, न कोई शिकायत रही
हर हालात को माना है क़िस्मत समझकर

जो कभी थे अजनबी, लगते हैं अपने से
बदला है नज़रिया उन्हें अपना समझकर

दर्द को बाँट दिया मुस्कराहटों में हमने
हर आँसू को रखा है हँसी समझकर

हर अंधेरे में हमने ढूँढ ली है रौशनी
हमने रातों को जिया है सहर समझकर

सन्नाटों से भी मिलती रही है सदा कोई
हमने तन्हाई को चाहा नवा समझकर

ख़ुद से भी हो गई अब दोस्ती सी हमारी
तन्हा रास्तों में सफ़र को कारवाँ समझकर

'शफ़क़' अब किसी साया से नहीं डरते
हुनर पाया है अँधेरे को उजाला समझकर

रब-ए-अलम-खुदा, भगवान
फिसलन - मुश्किल, अस्थिर परिस्थिति
शिकवा - शिकाय
नज़रिया-देखने का तरीका
सहर-सुबह
तन्हाई - अकेलापन
नवा - स्वर, आवाज़
कारवाँ - यात्रियों का जत्था
साया - परछाई
हुनर-कला

ग़ज़ल: "दर्द से दुआ तक: एक रूहानी सफ़र"

प्रस्तावना:

यह ग़ज़ल दर्द की तपिश से पैदा हुई उस रूहानी रोशनी की कहानी है, जो ज़ख़्म को इल्म, तन्हाई को तासीर, और गिरह को गरिमा में बदलने का हुनर रखती है। 'दर्द से दुआ तक' केवल शब्दों का क्रम नहीं, बल्कि एक जिजीविषा की यात्रा है - जहाँ हर ठोकर एक नई ऊँचाई की सीढ़ी बन जाती है, हर आँच में एक चिराग़ जल उठता है।

'शफ़क़' की ये ग़ज़ल उन आत्माओं को समर्पित है जो जिन्हें दुनिया ने बेबस समझा, लेकिन उन्होंने अपनी चीख को नवा बना लिया; जो टूटे नहीं, बल्कि टूट कर दर्पण में खुद को ख़ुदा बना बैठे।

हर शेर में एक रूह की यात्रा है - सुकून की तलाश से लेकर खुद की पहचान तक। यह ग़ज़ल हमें बताती है कि सज़ा भी अदा बन सकती है, अगर नज़र में इबादत का रंग हो।

यह केवल भावों का संकलन नहीं, एक आत्मिक पुनरुत्थान है - जहाँ आँधियाँ कहानी बनती हैं, और तन्हाई से निखरती है महफ़िल की रोशनी।

ग़ज़ल: "दर्द से दुआ तक: एक रूहानी सफ़र"

हर दर्द को हमने दुआ बना लिया
ज़ख़्मों को उसकी रज़ा बना लिया

आँखों ने जब खड़े किए सवाल
दिल ने जवाब समझा लिया

ठोकर पड़ी तो और ऊँच उठे हम
हर गिरह को सिला बना लिया

जलते रहे तो रौशनी बढ़ती गई
हर आँच को चिराग़ बना लिया

जिस मोड़ पर सुकून था न पहले
उस मोड़ को पता बना लिया

जब चीख़ बन गई थी बेबसी
हमने उसे नवा बना लिया

जो आँधियाँ बुझाने आईं शम्अ
उनसे ही सिलसिला बना लिया

तन्हा थे तो सवाल बन गए हम
महफ़िल ने फिर दवा बना लिया
हर सर्द लम्हा ज़हर सा लगता था
हमने उसे ही क़ुबा बना लिया

दर्पण में जब नज़र मिली खुद से
हमने उसे ही अपना ख़ुदा बना लिया

'शफ़क़' जिसे सज़ा कहा था सबने
हमने उसे अपनी अदा बना लिया

शब्दार्थ:
रज़ा - संतोष, ईश्वर की इच्छा
गिरह-गाँठ, कठिन मोड़
सिला - उत्तर, फल, इनाम
नवा - स्वर, साज़
सिलसिला-निरंतरता, रौशनी का क्रम, उम्मीद की जारी परंपरा
क़ुबा - गरमाहट देने वाला लबादा
अदा - अंदाज़

ग़ज़ल: ‘रिश्ता उजालों से’

प्रस्तावना:

रिश्ता उजालों से’ ज़िंदगी से निभाए गए एक गहरे रिश्ते की दस्तान है - जिसमें दर्द भी साथी है, और अंधेरा भी अपना। यह रचना उन लोगों की आवाज़ है जिन्होंने उजालों की तलाश में अंधेरों को समझा, उन्हें अपनाया, और फिर उसी से रौशनी की राह निकाली। यह ग़ज़ल उस संघर्षशील आत्मा का दस्तावेज़ है, जो तपती राहों पर भी मुस्कराती रही, जिसने छाले नहीं गिने, बल्कि उन्हें मंज़िल का निशान मान लिया। यह उन जज़्बातों का बयान है जो ठुकराए जाने पर भी कड़वाहट नहीं पालते, बल्कि तंज़ और बेरुख़ी को भी अपने क़िस्सों में जगह देते हैं।
हर शेर एक अनकही तपिश को आवाज़ देता है -
जहाँ तन्हाई महफ़िल बनती है,
जवाब आँसुओं में बहते हैं,
और दिल का सबसे गहरा दर्द एक तराना बनकर गूंजता है।
शायर यहाँ ये नहीं कह रहे कि उन्होंने अंधेरे को हराया, बल्कि ये जता रहे हैं कि उन्होंने अंधेरे को समझा और उसमें जीना सीखा - और अब वक़्त है फिर से उजालों का पता पूछने का। यह ग़ज़ल उम्मीद और हिम्मत का साझा आलोक है- जहाँ हर दर्द एक दुआ बन जाता है, और हर ठोकर एक नया रास्ता दिखा जाती है।

ग़ज़ल: ‘रिश्ता उजालों से’

उम्र भर चलते रहे धूप से तपती राहों में
पैरों में पड़े छालों से ही रिश्ता बना लिया

जल के राख हो गया जब ख़्वाबों का नगर
फिर से वहीं हमने नया ठिकाना बना लिया

छाँव भी जब मिली ठहरे नहीं कहीं जरा भी
हर इक जलन को अपना साया बना लिया

जिसने हर मोड़ पर रोका हमें आगे बढ़ने से
उस हर त'अर्रुज़ को ही अपना बना लिया

तूफ़ानों ने जब राह बदलने को किया मजबूर
हमने लहरों से ही अपना किनारा बना लिया

जो सदा दिल को जलाता रहा हर मौसम में
हर उस दर्द को दिल का तराना बना लिया

रात जब चीख़ उठी खामुशियों के बोझ से
हमने तन्हाइयों को भी महफ़िल बना लिया

सवालातों ने बेमौसम रुलाया बारहा हमें
आँसुओं से जवाबों का सिलसिला बना लिया
सख़्त लहजे भी थे, बेरहम तंज़ भी थे बहुत
नफरतों को भी अपना फ़साना बना लिया

जिनसे उम्मीद भी हमने नहीं की थी कभी
उनकी नज़रों में भी हमने ठिकाना बना लिया

चलो आज फिर से उजालों का पता पूछा जाए
'शफ़क़' अंधेरों से तो रिश्ता बहुत निभा लिया

त'अर्रुज़: रुकावट
बारहा: अनेक बार

ग़ज़ल: 'राहों से राब्ता'

प्रस्तावना:

यह ग़ज़ल 'राहों से राब्ता' ज़िंदगी के उन अनछुए पहलुओं को उजागर करती है, जहाँ हौसले, हिम्मत और अपने विश्वास पर अटल रहने की भावना को ख़ूबसूरती से शब्दों में पिरोया गया है। यह ग़ज़ल एक ऐसी यात्रा का दस्तावेज़ है, जो मुश्किलों, चुनौतियों और अंधेरों के बीच भी उम्मीद की किरण को थामे रखने की बात करती है।

इस ग़ज़ल में ज़िंदगी की राहों पर चलते हुए आने वाली बाधाओं, समाज के दबावों और आत्मिक संघर्षों को न केवल बयान किया है, बल्कि यह भी दिखाया है कि कैसे इंसान अपने दृढ़ निश्चय और आत्मविश्वास से हर मुश्किल को पार कर सकता है। ग़ज़ल का हर शेर एक कहानी कहता है-चाहे वह हवाओं के रुख़ के बावजूद रुकने से इनकार हो, बार-बार गिरकर उठने का जज़्बा हो, या फिर ख़ामोशियों के बीच दिल की आवाज़ को सुनने की हिम्मत।

'राहों से राब्ता' न केवल एक ग़ज़ल है, बल्कि एक प्रेरणा है, जो पाठक को अपने भीतर की ताक़त को पहचानने और मुश्किलों के सामने न झुकने का संदेश देती है। यह रचना की संवेदनशीलता, गहन चिंतन और शब्दों पर पकड़ का एक शानदार नमूना है, जो पाठकों के दिलों को छूने की ताक़त रखती है।

ग़ज़ल: 'राहों से राब्ता'

हवा के रुख़ को देखा, मगर रुके नहीं
झौंकों से काँपते थे , मगर झुके नहीं

बहाव में जो बहे, उन्हें वक़्त ने भुला दिया
हम उन में थे जो लहर के संग चले नहीं

गिरे तो बार-बार, मगर उठे भी बार-बार,
ख़ुद अपने दर्द के मारे हौसला खोया नहीं

वो मोड़ जहाँ सबने जाने से मना किया
वहीं से कदम लिया, किसी को सुना नहीं

कभी चिराग़ बुझा, घरोंदे ढह गए मगर
यक़ीं से हमारी मोहब्बत कम ज़रा नहीं

वो अपना साया ढूँढते रहे उम्र भर अंधेरों में,
हमने जलन से कभी उजाला किया नहीं

पैरों में चुभे जो काँटे, हमने उनसे सीख ली,
ज़ख्मों से डरकर रस्ता कभी बदला नहीं

सवालातों ने जब भी सताया सूनी रातों में
दिल से जवाब दिया ज़ुबाँ से कुछ कहा नहीं

ख़ामोशियों ने की कोशिश तोड़ दे हौसला,
उन्हें भी जवाब दिया खामोशी से हम डरे नहीं

'शफ़क़' अंधेरों से रिश्ते तो निभ गए लेकिन
उजालों से कोई सौदा कभी किया नहीं ।।

ग़ज़ल: 'वक़्त नहीं'

प्रस्तावना:

ग़ज़ल 'वक़्त नहीं' आधुनिक जीवन की भागदौड़ और उसमें खोती जा रही संवेदनाओं का मार्मिक चित्रण है। यह ग़ज़ल समय की कमी और उसकी वजह से अधूरी रह जाने वाली इच्छाओं, ख़्वाबों और रिश्तों की त्रासदी को बड़े ही संवेदनशील ढंग से उकेरती है। प्रत्येक शेर में एक ऐसी सच्चाई छिपी है, जो आज के दौर में हर इंसान के जीवन से जुड़ती है—वह चाहे दिल में उठती हलचल हो, ख़्वाबों का हक़ीक़त में न बदल पाना हो, या फिर रिश्तों के बीच वक़्त की तलाश।

इस ग़ज़ल में समय की अनमोलियत और उसकी चंचलता को गहरे भावों के साथ व्यक्त किया है। यह रचना न केवल भीतर की बेचैनी और तन्हाई को दर्शाती है, बल्कि यह भी बताती है कि कैसे हमारी ज़िंदगी की आपाधापी में हम ख़ुद को और अपने रिश्तों को भूलते जा रहे हैं। हर शेर एक दर्पण है, जो हमें अपनी प्राथमिकताओं और खोए हुए पलों पर विचार करने को मजबूर करता है।

'वक़्त नहीं' एक ऐसी ग़ज़ल है, जो पाठक को न केवल भावनाओं की गहराई में ले जाती है, बल्कि यह भी याद दिलाती है कि जीवन की असल ख़ुशी उन छोटे-छोटे लम्हों में छिपी है, जिन्हें हम अक्सर समय की कमी के बहाने नज़रअंदाज़ कर देते हैं। यह रचना उनकी शायरी की ताक़त और संवेदनशीलता का एक और नायाब उदाहरण है।

ग़ज़ल: 'वक़्त नहीं'

लब चुप हैं मगर दिल ही दिल में हो रही हलचल
हर एक बात मुकम्मल है, कहने का वक़्त नहीं

हर रोज़ कोई ख़्वाब चुपचाप चहकता है
लेकिन उसे हक़ीक़त बनने का वक़्त नहीं

महफ़िल में जो चेहरा मुस्काता है सबसे ज़्यादा
अक्सर उसी इंसाँ को हँसने का वक़्त नहीं

ख़ुशबू की तरह दिल में जो यादें महकती हैं
उनको कभी बाँहों में कसने का वक़्त नहीं

आवाज़ के साए में जो तन्हा-सी थकती है
उस रूह की पीड़ा को सुनने का वक़्त नहीं

हर रोज़ बदन बोल उठे-“थोड़ा ठहर जाओ ”
पर दिल को समझाने, बहलाने का वक़्त नहीं

मिरा हर लम्हा जैसे कोई ख़्वाब-सा गुज़रा
अब वक़्त है, पर उसमें रहने का वक़्त नहीं

हर ख़्वाब को छूने का जुनूँ है मेरे सीने में
पर जो हक़ीक़त है, वो कहती है वक्त नहीं

उम्मीद का सूरज तो उगता है हर सहर लेकिन
ढल जाते हैं पल, मंज़िलों से बात का वक्त नहीं

इक छोटी सी ज़िन्दगी में बहुत कुछ तमन्ना है
नींद भी माँगती है हक़ अपना मगर वक्त नहीं

रिश्तों की भी धूप छाँव में कुछ मिले कुछ छूटे
हर बार चाहा लेकिन मुलाक़ात का वक़्त नहीं

भीड़ में हूँ फिर भी बहुत अकेला है ‘शफ़क़’
मैं हूँ तो सही पर ‘मैं’ बनने का वक़्त नहीं।।

लब: ओंठ
मुकम्मल: पूर्ण
सहर: सुबह

ग़ज़ल: ‘तक़ाज़ा ए वक़्त’

प्रस्तावना:

‘तक़ाज़ा ए वक़्त’ समय की माँगों और जीवन के उतार-चढ़ाव के बीच मानवीय हौसले, सिद्धांतों और आत्मसम्मान की दास्तान बयान करती है। यह ग़ज़ल एक ओर वक़्त की कठिनाइयों और चुनौतियों के सामने झुकने की मजबूरी को दर्शाती है, तो दूसरी ओर यह उस अटल इरादे और किरदार की मज़बूती को रेखांकित करती है, जो तूफ़ानों को भी रास्ता बदलने पर मजबूर कर देता है।

इस रचना में जीवन के विभिन्न रंगों—रिश्तों की नाज़ुकता, सब्र की ताक़त, और ख़ुद की पहचान को बनाए रखने की जिद—को बड़े ही ख़ूबसूरत अंदाज़ में पिरोया है। प्रत्येक शेर में एक गहन दर्शन छिपा है, जो यह बताता है कि वक़्त चाहे कितना भी कठोर हो, इंसान अपने उसूलों, हौसले और दिल की आवाज़ से हर मुश्किल को ग़नीमत में बदल सकता है।

‘तक़ाज़ा ए वक़्त’ सिर्फ़ एक ग़ज़ल नहीं, बल्कि एक प्रेरणादायक सैर है, जो पाठक को अपने भीतर की ताक़त और सच्चाई से रूबरू कराती है। शायरी का यह नमूना शायर की भावनात्मक गहराई, शब्दों पर पकड़ और ज़िंदगी के प्रति उनके संवेदनशील नज़रिए को उजागर करता है, जो हर दिल को छूने की क़ाबिलियत रखता है।

ग़ज़ल: ‘तक़ाज़ा ए वक़्त’

झुके हैं तो महज़ वक़्त के तकाज़ों से हम
वरना तूफ़ानों के रुख़ मोड़ देने का हुनर रखते हैं

या रब के सामने झुकते हैं, वरना दुनिया में
हम अपने हौसलों को ऊँचा दर्ज रखते हैं

हमकदम जो पीछे छूटा वक्त की गर्दिश में अक्सर
हम उनकी याद को भी वक़्फ़ा-ए-एहतेमाम रखते हैं

हमें मालूम है अपने किरदार की अस्ल अहमियत
हम अपने बोल में हर लफ़्ज़ का मिज़ाज रखते हैं

न पूछो वक़्त के थपेड़ों में कैसे बचते रहे हम
हम अपनी जां में सिद्क़ का का अल्फ़ाज़ रखते हैं

जो रिश्ते मोड़ पर हर बार अपना रंग बदलते हैं
हम उनकी दोस्ती में भी लहजा नरम रखते हैं

जो हमको आजमाते हैं तो हर मोड़ पे देखो
हम अपने सब्र का भी इक दर खुला रखते हैं

मसर्रत से जो मिल जाए, ग़नीमत है मगर
हम ग़म को भी दुआ समझने का अंदाज़ रखते हैं

कभी बदले नहीं किरदार के उसूल अपने
हम हर लफ़्ज़ में उस का ही असर रखते हैं

'शफ़क़' पहचानते हैं लोग अब आवाज़ को मेरी
हम अपनी शायरी में दिल का हर अंदाज़ रखते हैं

तक़ाज़ा-परिस्थिति की माँग
रब-खुदा, ईश्वर
मिज़ाज-स्वभाव, प्रकृति
दर्ज-अंकित
गर्दिश-बुरा वक्त
वक़्फ़ा-ए-एहतेमाम = सम्मान की जगह
हर्फ़-शब्द
किरदार-व्यक्ति का चरित्र, आचरण या व्यवहार
अल्फ़ाज़-शब्द, शब्द समूह
सिद्क़ -सच्चाई
दर-दरवाज़ा , दहलीज़
मसर्रत -प्रसन्नता,
ग़नीमत-नेमत/सौभाग्य

ग़ज़ल: 'नूर ए नफ़स'

प्रस्तावना:

ग़ज़ल 'नूर ए नफ़स' आत्मा की आंतरिक शक्ति और जीवन की अंधेरी घाटियों में भी उम्मीद की रौशनी तलाशने की प्रेरक यात्रा का एक सुंदर चित्रण है। यह ग़ज़ल मानव रूह की उस ताक़त को उजागर करती है, जो विपरीत परिस्थितियों में भी टूटने के बजाय सँवरती है, हारने के बजाय नया रास्ता बनाती है। प्रत्येक शेर में ग़म, शिकस्त और तन्हाई के बीच भी विश्वास, वफ़ा और हौसले की जीत का ज़िक्र है, जो पाठक के दिल को गहरे तक छूता है।

इस रचना में ज़िंदगी की नाज़ुकतों और चुनौतियों को एक ऐसे दार्शनिक अंदाज़ में पेश किया है, जो न केवल भावनाओं को झकझोरता है, बल्कि यह भी सिखाता है कि कैसे अपने दुखों को ही रौशनी का ज़रिया बनाया जा सकता है। ख़ामोशी, ज़ख़्मों और तूफ़ानों के बीच भी रूह की यह जीवटता ग़ज़ल का मूल स्वर है, जो हर पंक्ति में झलकता है।

'नूर ए नफ़स' एक ऐसी काव्यात्मक कृति है, जो पाठकों को अपने भीतर की उस चिंगारी को पहचानने की प्रेरणा देती है, जो अंधेरों में भी नूर बिखेर सकती है। यह ग़ज़ल संवेदनशीलता और ज़िंदगी के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण को दर्शाती है, जो मानव रूह की लचीलापन को प्रतिबिंबित करती है और इसे एक कालजयी रचना बनाती है, जो हर दिल से जुड़ती है।

ग़ज़ल: 'नूर ए नफ़स'

अँधेरियों में भी रूह ने नफ़स से नूर लिया
ग़मों की तीरगी में इक रास्ता बना लिया

उम्मीद टूटती थी जहाँ साँस-साँस पर,
हमने वहाँ वफ़ा का ही सिलसिला लिया

हर एक ज़ख़्म की जब कोई दवा न थी
हमने दुआ से अपना ग़म हल्का किया

जो बात दिल में थी, कभी लब पे आ न सकी
ख़ामोशियों को हमने ही आइना किया

हर मोड़ पर मिली जो शिकस्त बारहा
हमने उसी शिकस्त को ही ताज पहना लिया

जिसे जमाना समझा था बस एक बद्दुआ
हमने उसी सदा से अपना नग़मा लिया

जिस फ़िराक़ में भी रहा कुछ सुकूँ सा है
शायद उसे भुलाने का वक़्त आ गया

हर रूह जल रही थी यहाँ अपने बोझ से,
हमने अपने ग़म को ही रौशनी बना लिया

तूफ़ाँ से लड़ते-लड़ते थक चुके थे हम
फिर भी यक़ीं का दिया फिर जला लिया

बिखर के भी सँवरते रहे हर घड़ी मगर
ख़ुद अपने आँसुओं से ही दिल सजा लिया

नज़ाकतों की रिवायत को थामा हर हाल में
अदब की राह से फिर अपना मुकाम पा लिया

हवाओं ने बुझाया बारहा मेरे हौसलों का चिराग़
‘‘शफ़क़’’हर बार रूह ने फिर से नूर जगा लिया

नफ़स -साँस, आत्मा का प्रतीक
नूर-प्रकाश, ज्योति
तीरगी -अंधकार, उदासी
शिकस्त -हार
बारहा-बार बार
सदा-पुकार, आवाज
फ़िराक़-वियोग, जुदाई
रूह-आत्मा
नज़ाकत - कोमलता, नर्मी
रिवायत-सुनी सुनाई बात
अदब-विनय, सम्मान

ग़ज़ल: ‘झुके तो नहीं’

प्रस्तावना:

झुके तो नहीं - यह हौसले की ज़ुबान, ज़मीर की गवाही, और सच के सफ़रनामे की कवितात्मक अभिव्यक्ति है।
इस ग़ज़ल में लेखनी अनुभवों के उन पहाड़ों से गुज़रती है जहाँ कई बार इंसान टूटता है, लेकिन झुकता नहीं। यहाँ हर शेर, ज़िंदगी के किसी तपते मोड़ से निकली हुई वह नमी है, जो पाठक के दिल तक पहुँचती है - एक एहसास छोड़ती है, और फिर एक सवाल भी।
यह ग़ज़ल उस मानवीय चेतना की मिसाल है जो आँधियों से रिश्ते तो रखती है, मगर चिराग़ से नाता नहीं तोड़ती। यह लेखन सत्य के पक्ष में खड़ा है, और किसी भी तिलिस्मी रात के आगे अपने सपनों की लौ को बुझने नहीं देता।
यह ग़ज़ल भी उसी सफ़र की एक झलक है -
जहाँ हालात ने पैर पकड़े,
लोगों ने रंजिशें बोईं,
समय ने कड़ी परीक्षा ली -
मगर एक बात नहीं बदली:
ख़ुद्दारी, संवेदना और आत्म-निष्ठा।
संदेश और संवेदना

- ‘झुके तो नहीं’ उन सभी को समर्पित है
- जो आँधियों से दोस्ती कर लेते हैं
- जो रेत पर घर बनाते हैं, फिर भी हिम्मत नहीं हारते
- जो भीतर से टूटकर भी बाहर मुस्कुराते हैं
- और जो सच के साथ खड़े रहना जानते हैं, किसी भी कीमत पर

यह ग़ज़ल एक प्रेरणा है - उन जिंदगियों के लिए जो आसान नहीं थीं,
पर फिर भी उन्होंने अपना आपा नहीं खोया।

ग़ज़ल: ‘झुके तो नहीं’

टूटे हैं लेकिन बिखरे तो नहीं
आँधियों से भी झुके तो नहीं

रातों ने लाखों तिलिस्म रचे
पर आँखों से सपने बुझे तो नहीं

धूप में तपती रहगुज़र थी मगर
हम बढ़ते ही रहे, रुके तो नहीं

मुख़ालिफ़त हुई, रंजिशें भी रहीं
मगर हौसले से झुके तो नहीं

छिना बहुत कुछ मुसल्सल मगर
ख़ुदी को कभी भुलाया तो नहीं

ज़हर के घूँट पिए, इल्ज़ाम सहे
मगर कभी आपा खोया तो नहीं

हर वार सहकर भी मुस्कुराए हम
अश्कों को दिल में पनाह दी तो नहीं

सच की सदा से जो रिश्ता रहा
कभी झूठ के संग ढले तो नहीं

काँटे चुभे, छाले पड़ गए पैरों में
हम मंज़िल की राहों से हटे तो नहीं
हालात ने हर क़दम रोका हमें,
चलते ही रहे पीछे मुड़े तो नहीं

बनाते रहे घर समंदर की रेत पर
मगर तेज़ लहरों से डरे तो नहीं

आँधियों से भी रिश्ते रखे हमने
मगर चिराग़ से नाता तोड़ा तो नहीं

'शफ़क़' आँधियों ने ही सिखाया बहुत
तमाम डर के साए में कभी जिए तो नहीं

तिलिस्म: मायावी रचना, जालसाजी
मुसल्सल: लगातार
ख़ुदी: आत्मसम्मान, स्वचेतना
रहगुज़र: रास्ता
मुख़ालिफ़त: विरोध
रंजिशें: मनमुटाव
पनाह: शरण

ग़ज़ल: ‘वही समझता है’

प्रस्तावना:

‘वही समझता है’ केवल एक शायरी नहीं, यह दर्द की पाठशाला है - जहाँ पाठक को नज़र आता है कि समझ केवल पढ़ने या जानने से नहीं आती, झेलने से आती है। इस ग़ज़ल में जो कहा गया है, वह उतना ही अहम है जितना वह जो अनकहा रह गया है। यह ग़ज़ल एक सच्चे अनुभवकर्ता की कलम से निकली है - वो शख़्स जिसने अंधेरे को रात की तरह नहीं, एक इम्तहान की तरह देखा, और उजाले को एक इनाम नहीं, एक अर्ज़ किया हुआ सुकून माना।
यहाँ शेर सिर्फ़ अल्फ़ाज़ नहीं, वो दरवाज़े हैं, जो इंसान की अंदरूनी सच्चाइयों तक पहुँचने का रास्ता दिखाते हैं। हर शेर में कोई न कोई ऐसा किरदार मौजूद है -

- जो किसी रात को भोग चुका है,
- जो किसी धूप में झुलस चुका है,
- जो किसी की बेरुख़ी में भी वफ़ा ढूँढता है,
- और जो किसी का हाथ थामने को तैयार है, जबकि उसका अपना हाथ काँप रहा हो।

यह ग़ज़ल संवेदना के उस स्तर पर खड़ी होती है जहाँ समझदारी सिर्फ़ अक़्ल नहीं, दर्द और अनुभव से निचोड़ी हुई समझ बन जाती है।

ग़ज़ल: ‘वही समझता है’

जो जल चुका हो रात भर, सवेरा वही समझता है
अंधेरों से जो लड़ा हो, उजाला वही समझता है

हँसी को लब पे रखता है जो पत्थर बन के हर लम्हा
जो रो चुका हो दिल से, बेबसी वही समझता है

किसी की बेरुख़ी में भी जो ढूँढे प्यार की आहट,
वफ़ा के मायनों को आशिक़-ए-सादिक़ ही समझता है

सुकून कब है, कैसे, किस लिए है-कौन जाने
जो बेचैनियों में जिया हो, राहत वही समझता है

जो दिल से टूट जाता है, दर्द-ए-दिल वो समझता है
मोहब्बत की ज़ुबाँ को दिल-ए-नाकाम ही समझता है

छाँव की अहमियत क्या है तपती धूप में चलकर
जो पाँव जल चुके हों, रेगिस्तान का राही ही समझता है

ग़रूर करता है जो, उसने शायद कुछ न खोया
जो सब गँवा चुका हो, वो तौबा ही समझता है

भुला सके जो अपनों को, वो याद क्या करेगा
जो टूट के बिखरा हो, वो रिश्ता ही समझता है

जो थाम ले किसी का हाथ मुश्किल वक़्त में आकर,
सफ़र की थकन को वो हमसाया ही समझता है।

जो रोटियाँ किसी और के संग बाँट आया हो,
भूख की ज़रूरतों को मुफ़लिस ही समझता है

ग़मों के सिलसिले से जो हँस के पार निकला हो
ज़िन्दगी की बात को अब फ़साना ही समझता है

जो आईने में चेहरा बदलता देखता हो हर रोज़
वक़्त की नज़ाकत को तमाशा वही समझता है

'शफ़क़' ने ग़म को जज़्ब किया यूँ कि मुस्कराता है
जो रो चुका हो जी भर के, वो शख़्स ही समझता है

लम्हा: क्षण
बेरुख़ी: उपेक्षा
आशिक़-ए-सादिक़: पक्का चाहने वाला
सुकून: सुख-चैन
ग़रूर: घमंड
तौबा: पश्चाताप

फ़साना: कहानी
हमसाया: पड़ोसी
मुफ़लिस: ग़रीब
वक़्त की नज़ाकत: समय के साथ बदलने वाली परिस्थिति
जज़्ब: छुपाना

ग़ज़लः 'तमीज़-ए-गुफ्तगू'

प्रस्तावनाः

यह एक ऐसी ग़ज़ल है जो हमें ये याद दिलाती है कि शब्द केवल ध्वनि नहीं होते, वे चरित्र का प्रतिबिंब होते हैं। यह ग़ज़ल उस सूफियाना समझ की उपज है, जो कहती है - ज़ुबान से निकली बात, रिश्ते बना भी सकती है और मिटा भी। यहाँ हर शेर किसी किताब का सारांश है, हर मिसरा ज़िन्दगी का सलीका सिखाने वाला शिक्षक है।
विषय की गहराई और प्रस्तुत शैली
इस ग़ज़ल की सबसे बड़ी ख़ूबी है इसका अंदाज़ -
न कोई ऊँचा स्वर, न कोई आरोप - सिर्फ़ तहज़ीब में लिपटी तालीम।
हर शेर बोलता है, मगर चिल्लाता नहीं।
हर बात समझाता है, मगर ज़ोर देकर नहीं, मोहब्बत से छूकर।
यह ग़ज़ल बताती है कि - कैसे एक ल़फ्ज़, एक जुमला, किसी दिल को ज़ख़्म दे सकता है, और कैसे वही ज़ुबान, मरहम भी बन सकती है। यहाँ जुबां की ताक़त को तहज़ीब के चश्मे से देखा गया है - जहाँ नर्मी में असर है, और सलीक़े में इज़्ज़त।

- यह ग़ज़ल उन सभी के लिए आईना है
- जो बोलना जानते हैं, मगर सोचकर नहीं बोलते,
- जो सच कहते हैं, मगर तमीज़ से कहना नहीं सीखे,
- और उन सबके लिए भी,
- जो ज़ुबान को सिर्फ़ वाणी नहीं, इंसानियत का पुल मानते हैं।

ग़ज़लः 'तमीज़-ए-गुफ्तगू'

दिल तो बाद में दिखता है, ज़ुबान पहले पहचान करा देती है
छोटी-सी बात भी दिल में छुपी बड़ी दास्तान करा देती है

लहजे में गर हो नरमी तो जंग भी दोस्ती बन जाती है
वरना सख़्त ज़ुबान अकसर मोहब्बत को रुसवा करा देती है

हर लफ़्ज़ में होता है असर, हर बात का वज़न होता है
जो बात जुबां से निकले वो सूरत-ए-फ़रमान करा देती है

बोलने से पहले सोचो, ये तीर न बन जाये चलकर
ज़ुबान अक्सर अपनों में ही दीवारें खड़ी करा देती है

जो दिल में है वो कह दो मगर अंदाज़ में हो शराफ़त
सीधी बात अगर कड़वी हो, तो रिश्ता वीरान करा देती है

मीठे लफ़्ज़ों में लिपटी हुई तल्ख़ी भी चल जाती है
कड़वे सच की कड़वाहट भी ज़ुबां मीठी तो असर करा देती है

तालीम नहीं बस इल्म नहीं, तहज़ीब भी ज़रूरी होती है
ज़ुबान इंसान को इंसान से ऊपर भगवान करा देती है

तमीज़-ए-गुफ़्तगू से नापी जाती है सोच की गहराई
ज़ुबां सँवर जाए तो किरदार को ज़मानत करा देती है

जिसने लहज़े को थाम लिया, वो हर दिल पर राज करे
वरना तल्ख़ ज़ुबां अपनी ही हस्ती को नुकसान करा देती है

हर जुमला इक चेहरा है, हर बात में छिपा एक आईना
ज़ुबां सच बोल दे तो झूठ की भी पहचान करा देती है

'शफ़क़'यही इल्म है जो उम्र के तजुर्बे से किया हासिल
ज़ुबां सँभल जाए तो रौशन ए तक़दीर करा देती है

रुसवा: बदनाम, अपमानित
सूरत-ए-फ़रमान: हुक्म की शक्ल में
तमीज़-ए-गुफ़्तगू: बातचीत का सलीका
तहज़ीब: संस्कृति, शिष्टाचार
तल्ख़ी: कटुता, कड़वाहट
रौशन ए तक़दीर: भाग्य का उजाला, सुनहरा भविष्य
ज़मानत: गारंटी, मूल्य की पुष्टि

ग़ज़ल: ‘और किसी से मत कहना’

प्रस्तावना:

‘और किसी से मत कहना’ कोई परामर्श नहीं, बल्कि एक भावात्मक याचना है- उन सभी के लिए जो मुस्कुराते चेहरों के पीछे टूटी परछाइयों को छुपा कर जीते हैं।
यह ग़ज़ल उस सलीक़े की मिसाल है जहाँ दर्द को बयाँ नहीं, संजोया जाता है। यहाँ हर शेर किसी दिल के ऐसे कोने से निकला है, जिसे दुनिया की नज़र से छुपाकर रखा गया हो।
यह ग़ज़ल बताती है कि -
कभी-कभी ख़ामोशी बोलती है,
और जो कुछ कहा भी जाए,
वो सिर्फ़ भरोसे के क़ाबिल दिलों तक पहुँचना चाहिए।
इस ग़ज़ल में विरह है, तन्हाई है, लेकिन शिकवा नहीं।
यह लेखन रोने की छूट नहीं देता, लेकिन आंसुओं की इज़्ज़त करता है।
हर मिसरा मानो एक ऐसा सन्देश है जिसे किसी बेहद क़रीबी से कहा जा सकता है -
और कहा भी जाए, तो आहिस्ता, ताकि वो भी इसे दुनिया से न कहे।

- यह रचना बताती है -
- कैसे दिल की सबसे निजी आवाज़ें,
- कैसे अधूरे रिश्ते, छुपे हुए आंसू,
- और कैसे न कहे गए सच -

इन सबको सिर्फ़ एक सलीकेदार साया चाहिए, न कि शोर।
यह ग़ज़ल उनके लिए है

- जो दिल से टूटा तो हैं, लेकिन अब भी खुद्दार हैं
- जो किसी की याद में बिखरे, मगर उसे इल्ज़ाम न दिया
- और जो जान चुके हैं कि

हर बात सबके लिए नहीं होती।
और............
जो कुछ कहना भी हो -
कभी ल़फ्ज़ों से,
कभी आँखों से,

और कभी सिर्फ़ ख़ामोशी से कहो।
मगर जब कहो, तो इज़्ज़त के साथ कहो।
वरना - 'और किसी से मत कहना...'

ग़ज़ल: 'और किसी से मत कहना'

अंदर से टूटे कितने भी, हँसते हुए ही रहना
अपने आँसू छुपा लेना, और किसी से मत कहना

जो ख़्वाब अधूरे रह जाएँ, सीने में दफ़न कर लेना
जो टीस उठी हो दिल में कहीं, और किसी से मत कहना

जो पास था अब दूर हुआ, हर लम्हे में ज़िंदा है
वो नाम अगर लब पर आए, और किसी से मत कहना

इक रिश्ता साँसों जैसा था, अब बोझ बना दिल पर है
जो दर्द मिला उस चाहत से, और किसी से मत कहना

तन्हाई जो साथ रहे जब, महफ़िल के साए में हो
उस भीड़ में अपनी तन्हाई को, और किसी से मत कहना

वो बात जिसे कहने से, खुद से भी डर लगता है
गर दिल में रहती हो साँसों तक, और किसी से मत कहना

माजी के कुछ क़िस्से ऐसे, हर लम्हे को जला जाएँ
जो रात की नींदें छीनें, और किसी से मत कहना

मिल जाए अगर राहत थोड़ी, आँचल में उसे छुपा लेना
जो सुख भी लगें चुभते से, और किसी से मत कहना

टूटे दिल के टुकड़े भीतर, शोर मचाया करते हैं
उस दर्द की धुन को तुम, और किसी से मत कहना

जो सच तुम्हारा अपना हो, बस तुम तक ही सीमित हो
ज़ालिम दुनिया उलझा न दे, और किसी से मत कहना

लब पे सजा लो हँसी 'शफ़क़', पर आँखों से छलक न जाए
जो राज़ हो अपने ग़म का, और किसी से मत कहना

- **माजी: अतीत**
- **लब: होंठ**
- **धुन: स्वर / राग**
- **शफ़क़: तख़ल्लुस**

ग़ज़ल: ‘क़र्ज़ बाक़ी हैं’

प्रस्तावना:

मानवीय रिश्तों, एहसासों और उन अनमोल पलों की कहानी है, जो जीवन को अर्थ देते हैं और जिनका क़र्ज़ हम कभी चुका नहीं पाते। यह ग़ज़ल उन अनकहे अहसानों, दुआओं और समर्थन की याद दिलाती है, जो हमें मुश्किल वक़्त में संबल प्रदान करते हैं। प्रत्येक शेर में एक गहरी संवेदना और कृतज्ञता का भाव है, जो माँ की दुआओं, पिता की ख़ामोशी, दोस्तों की मुस्कानों और अनजान चेहरों की मेहरबानियों को श्रद्धांजलि देता है। इस रचना में ज़िंदगी के उन नाज़ुक रिश्तों और पलों को बख़ूबी उकेरा है, जो समय के साथ धूमिल हो सकते हैं, लेकिन उनके क़र्ज़ दिल में हमेशा बाक़ी रहते हैं। यह ग़ज़ल हमें उन लोगों और लम्हों की याद दिलाती है, जिन्होंने हमें ठोकरों से बचाया, हौसला दिया और जीने का मक़सद सिखाया।
‘क़र्ज़ बाक़ी हैं’ केवल एक ग़ज़ल नहीं, बल्कि एक भावनात्मक यात्रा है, जो हमें अपने आसपास के लोगों के प्रति कृतज्ञता और विनम्रता का पाठ पढ़ाती है।

ग़ज़ल: ‘क़र्ज़ बाक़ी हैं’

(हर लफ़्ज़ में छुपा है कोई क़र्ज़ रूह का
शायरी महज़ शौक़ नहीं, एक सिला होता है-’शफ़क़ ‘)

किसी ने दर्द में जब मुस्कुरा कर थाम ली उंगली
वो अहसानात हैं अब तक, कई क़र्ज़ों में बाक़ी हैं

कभी माँ की दुआओं ने बचाया वक़्त की मारों से
वो साया आज भी है साथ, जो क़र्ज़ों में बाक़ी है

पिता की ख़ामुशी ने जो सिखाई थी आगाही ,
वो हर इक बात दिल में है, कई क़र्ज़ों में बाक़ी है।

जो बचपन में हँसाया था बिना मतलब के मुस्कानों से
वो रिश्ता आज भी ज़िंदा है, जो क़र्ज़ों में बाक़ी है

कभी गिरते हुए लम्हे में किसी ने हाथ थामा था
उसी इक पल की ख़ुशबू अब तलक क़र्ज़ों में बाक़ी है

किसी ने ग़म में रहकर भी दिया उम्मीद का सूरज
वो उजला हौसला अब भी कई क़र्ज़ों में बाक़ी है

मुझे जब लोग छोड़ आए थे मेरी हार के क़ाबिल
किसी इक शख़्स ने जीत दी थी, क़र्ज़ों में बाक़ी है

जहाँ दुनिया ने ठुकराया, वहीं इक दिल ने अपनाया
उसी लम्हे का सदक़ा अब तलक क़र्ज़ों में बाक़ी है

जो तनहाई में बे-सबब मेरे आँसू पढ़ लिया करता
वो इक चेहरा मसीहा है, कई क़र्ज़ों में बाक़ी है

भुला बैठे हैं हम जिनको, उन्हीं से रौशनी है अब
ये एहसासात, शर्मिंदगियाँ, क़र्ज़ों में बाक़ी हैं

बचाकर ठोकरों से जो दिखाया रास्ता 'शफ़क़' मुझको,
वो इक मशविरे की चमक अब तक क़र्ज़ों में बाक़ी है

आगाही: आगाह करना, जागरूकता
सदक़ा: ईश्वरीय देन
बे-सबब: बिना स्वार्थ
मसीहा: उबारने वाला
मशविरे: सलाह

ग़ज़ल: 'समझ'

प्रस्तावना:

समझ' जीवन के अनुभवों, संघर्षों और उनसे उपजी गहरी समझ को शब्दों में पिरोती एक मार्मिक रचना है। यह ग़ज़ल उन लोगों की कहानी कहती है, जिन्होंने जीवन की कठिन राहों पर चलते हुए दुख, ठोकरें और तन्हाई को न केवल सहा, बल्कि उनसे सीखकर अपने भीतर की संवेदनशीलता और हौसले को और मज़बूत किया। प्रत्येक शेर में जीवन के कड़वे सच और उनसे उभरने वाली गहन समझ को बड़े ही ख़ूबसूरत और दार्शनिक अंदाज़ में प्रस्तुत किया गया है।

इस ग़ज़ल में उन अनुभवों को उजागर करते हैं, जो इंसान को ज़िंदगी की गहराई समझने वाला बनाते हैं—चाहे वह तपिश में साये की तलाश हो, लहरों से खेलने का मज़ा हो, या फिर तन्हाई में सुकून की खोज। यह रचना न केवल दर्द और शिकस्त को स्वीकार करती है, बल्कि यह भी दर्शाती है कि सच्ची समझ वही इंसान पाता है, जो मुश्किलों में भी वफ़ा, दुआ और अमन की बात करता है।

समझ' एक ऐसी ग़ज़ल है, जो पाठक को अपने अनुभवों पर विचार करने और जीवन की जटिलताओं में छिपी सादगी को पहचानने के लिए प्रेरित करती है।

ग़ज़ल: 'समझ'

जो बुझ चुका हो वक़्त से, उजाला वही समझता है
तपिश में ढल के निकला हो साया वही समझता है

जो खा चुका हो ठोकरें, किनारा नहीं माँगेगा
लहरों से खेल जाने का मज़ा वो ही समझता है

किसी के झूठ में जो ढूँढता हो सच की आदतें
वफ़ा के एक लफ़्ज़ की क़सम, वो ही समझता है

जिसे लिबास छिन जाने का डर कभी लगा न हो
बदन पे निशाँ ढोने का हुनर वो ही समझता है

भीड़ भरे शहर में भी जो तन्हा रहा उम्र भर
सुकूँ की बात का मतलब, बंदा वो ही समझता है

जिन्हें हर एक मोड़ पर मिली हो सिर्फ़ बेरुख़ी
निगाह के रुख़्सार में असर, वो ही समझता है

जो रोज़ रात में अपनी ही फ़रियाद से जागा हो
सवेरे की दुआ का हक़ अदा, वो ही समझता है

नसीब किस तरह बिकता है, कौन छीनता है ख़्वाब
किस्मतों से जो टूटा रहा उम्र भर, वो ही समझता है

कभी जो बाँट आया हो किसी का दर्द बिन माँगे
मुसाफ़िरों की राहों में, पता वो ही समझता है

हजार बार टूटा हो मगर फिर भी न शिकवा हो
मुक़द्दर के फ़साने का मज़ा वो ही समझता है

'शफ़क़' जो जुल्म सह कर भी अमन की बात करता है
कभी ख़ुद अपने आँसू पी गया, वो ही समझता है

जल चुका - दुखों से गुज़रा हुआ
तपिश - गर्मी, कष्ट
साया - छाया, शांति
ठोकरें - असफलताएँ,
किनारा - सुरक्षा या बचाव
लहरों से खेल - संघर्षों का सामना
वफ़ा - सच्ची मोहब्बत,
बदन पे निशाँ - शरीर पर ज़ख़्म के निशान
हुनर - कला या सामर्थ्य
तन्हा - अकेला
सुकूँ (सुकून) - शांति,
निगाह के रुख़्सार - नज़रों की कोमलता/भावना
असर - प्रभाव
शिकवा - शिकायत
मुक़द्दर - किस्मत,

फ़साना - कहानी, व्याख्या
जुल्म - अत्याचार
अमन -शांति
पी जाना- सह लेना, बर्दाश्त करना

ग़ज़लः 'राह–ए–रूह

प्रस्तावनाः

'राह-ए-रूह' आत्मा की यात्रा और जीवन की उलझनों को एक गहन और संवेदनशील काव्यात्मक रूप में प्रस्तुत करती है। यह ग़ज़ल ज़िंदगी के उन नाज़ुक पलों को चित्रित करती है, जहाँ ख़्वाबों का टूटना, तन्हाई की रातें, और हौसलों का सहारा एक साथ मिलकर आत्मा की राह को आलोकित करते हैं। प्रत्येक शेर में ज़िंदगी के दोहरे रंग–दर्द और उम्मीद, रंज और राहत–को इस तरह पिरोया गया है कि यह पाठक के दिल को गहरे तक छूता है।

शायर इस रचना में ज़िंदगी को एक ऐसी राह के रूप में दर्शाते हैं, जो कभी उलझती है, कभी चमकती है, और कभी दर्द में भी महक उठती है। यह ग़ज़ल रूह की उस सदा को सुनने की बात करती है, जो चुपके से दिल में गूँजती है, और यह सिखाती है कि हादसों और निराशाओं के बीच भी ज़िंदगी रौशनी की तलाश में निरंतर चलती रहती है।

'राह-ए-रूह' एक ऐसी काव्यात्मक कृति है, जो जीवन की अनिश्चितताओं और उसकी ख़ूबसूरती को एक साथ बयान करती है।

ग़ज़लः 'राह-ए-रूह

आईने से लिपट रही ज़िंदगी
ख़ुद-ब-ख़ुद ही उलझ रही ज़िंदगी

ख़्वाब टूटा तो जागने लगी
नींद से यूँ उचट रही ज़िंदगी

हिज्र की रात थम नहीं पाई
सुब्ह बन कर चमक रही ज़िंदगी

रूह कुछ कह रही थी धीमे से मगर
लब पर क्यों अटक रही ज़िंदगी

हौसलों ने दिया सहारा जब
हर क़दम पर चमक रही ज़िंदगी

हादसों ने सँवारा है शायद
दर्द में भी महक रही ज़िंदगी

एक सदा उठती थी दिल के भीतर
सुन के चुपचाप चलती रही ज़िंदगी

रंज ओ राहत का मेल था ऐसा,
रोते हँसते ही भटक रही ज़िंदगी

ना उमीदों का बोझ कम हुआ,
बेमक़सद सी ढलक रही ज़िंदगी

इक पल को रुक के देखा तो
साल दर साल ढह रही ज़िंदगी

फिर भी इक रौशनी की चाह लिए 'शफ़क़'
तेग लेकर मुसलसल टहल रही ज़िंदगी

आईना - दर्पण; आत्मावलोकन का प्रतीक
हिज्र - वियोग, जुदाई
सुब्ह - सुबह
रूह - आत्मा
लब - होंठ
रंज - दुःख
राहत - सुकून, शांति
तेग - तलवार; यहाँ साहस या संघर्ष का प्रतीक
मुसलसल- लगातार , निरंतर

ग़ज़ल: 'मौत से पहले नाम है'

प्रस्तावना:

यह ग़ज़ल जीवन की क्षणभंगुरता और उसकी सार्थकता को एक गहन दार्शनिक और भावनात्मक नज़रिए से प्रस्तुत करती है। यह ग़ज़ल ज़िंदगी को एक ऐसी यात्रा के रूप में चित्रित करती है, जो पल-पल के ठहराव, साँसों के पैग़ाम और अनकहे दर्द के बीच अपनी पहचान तलाशती है। प्रत्येक शेर में जीवन की नश्वरता और उसमें नाम कमाने की चाह को एक सूक्ष्म, किंतु मार्मिक ढंग से उकेरा गया है, जो पाठक को आत्म-चिंतन की गहराई में ले जाता है।

'शफ़क़' इस रचना में ज़िंदगी को एक संक्षिप्त शाम, एक ठहरा हुआ लम्हा और साँसों का क़र्ज़ बताते हैं, जो मृत्यु से पहले अपने वजूद को अर्थ देने की कोशिश करता है। ग़ज़ल के प्रतीक—जैसे साँस, अश्क़, ख़्वाब और क़फ़न—जीवन के विभिन्न रंगों को दर्शाते हैं, जो कभी उलझन, कभी तलाश और कभी हक़ीक़तों से सामना करते हैं। यह रचना यह सवाल उठाती है कि आख़िर ज़िंदगी का असल मोल क्या है—क्या वह नाम, जो हम पीछे छोड़ जाते हैं, या वह पल, जो हम जीते हैं?

'मौत से पहले नाम है' एक ऐसी काव्यात्मक कृति है, जो जीवन की नाज़ुकता और उसकी गहरी सार्थकता को एक साथ बयान करती है।

ग़ज़ल: मौत से पहले नाम है

दिन से रात के दरमियाँ जो पल-भर की शाम है
बस उतनी ही तो ज़िंदगी, मौत से पहले नाम है

हर सांस की चुप रहगुज़र में चलता कोई पैग़ाम है
तू सुन सके तो जान ले - ये पल ही तेरे नाम है

जो कह न पाए दर्द को, वो मौन भी बदनाम है
आँखें भी कुछ कहती रहीं, अश्क़ पहले नाम है

तू जिसको उम्र कह रहा, वो एक लम्हा-सा भरम
गुज़रा नहीं जो दरमियाँ, उस ठहराव से पैग़ाम है

तेरा वजूद भी है क्या? कुछ साँसें, कुछ इंतज़ार
बाक़ी तो बस तेरा मिट जाने से पहले नाम है

काग़ज़ पे जो लफ़्ज़ थे, वो धूप में जलते रहे
हर ज़िक्र इक साया बना, कफ़न से पहले नाम है

बचपन, जवानी, पगड़ियाँ- सब किरचियों में ढल गए
रूह रह जाती है बस, बिखरने से पहले नाम है

सोचते हैं जी लिए, कुछ रोज़ की उलझन में ही
हक़ीक़तों का सामना, मर जाने से पहले नाम है

जो ख़्वाब ताबीरों से पहले टूट जाते हैं कहीं,
वो भी किसी की याद में, मरहम से पहले नाम है

हर रोज़ एक शाम सी बिखरी हुई महसूस हो
ये ज़िंदगी इक बंद दर है, खुलने से पहले नाम है

हम जिस जहाँ में हैं 'शफ़क़'वो क़र्ज़ है हर साँस का
कर्ज़ा अदा जो कर सके, वो मरने से पहले नाम है

मौत से पहले नाम – जो मृत्यु से पहले तक शेष रहती है
रहगुज़र – रास्ता, मार्ग
पगड़ियाँ – सामाजिक/मान-सम्मान के प्रतीक
किरचियाँ – टुकड़े
आईना – दर्पण, आत्मदर्शन का प्रतीक
ताबीर – स्वप्न की व्याख्या या पूर्णता
मरहम – घाव भरने वाला साधन, सांत्वना
बंद दर – बंद दरवाज़ा

ग़ज़ल: 'रूह की विरासत:
अनदेखी छवियों की तलाश'

प्रस्तावना:

कभी-कभी इंसान अपने ही जीवन में अजनबी सा महसूस करता है - जैसे कोई और उसमें साँस ले रहा हो, कोई और उसके ल़फ्ज़ चुन रहा हो, उसकी राहें तय कर रहा हो। यह ग़ज़ल उसी रहस्यपूर्ण एहसास की पड़ताल है, जहाँ रूह की तहों में छुपे अनदेखे असर, पुराने संस्कार, विरासत में मिलीं संवेदनाएँ और पहचान के मुखौटे - सब धीरे-धीरे सामने आते हैं।

इस ग़ज़ल में सिर्फ अल्फ़ाज़ नहीं रचे गये हैं, बल्कि उन सवालों को जिया है जिन्हें हर संवेदनशील आत्मा कभी न कभी खुद से पूछती है —

'मैं ऐसा क्यों सोचता हूँ?'

'ये दर्द किसका है जो मेरे अंदर बोलता है?'

'क्या मेरी सोच सचमुच मेरी है?'

हर शेर जैसे रूह की गिरह खोलता है - कभी माँ की लोरी से आई मासूम परछाई बनकर, कभी समाज की बंदिशों से निकली थकी हुई सिसकी बनकर, और कभी बेनाम धुँधलकों में गुम किसी पुराने असर की परछाईं बनकर।

यह ग़ज़ल पहचान की उस परत को उघाड़ती है, जिसे हम अक्सर 'मैं' समझ बैठते हैं - जबकि वह दरअसल औरों की सोच का कोई बेजान नक़्शा होती है।

'हम वही हैं जो सोचे किसी और ने हमारे लिए...'

इस अंतिम शेर में पूरी ग़ज़ल का सार संचित है - कि हम अपनी ज़िंदगी जीते हैं, पर इख़्तियार कहीं और होता है।

यह रचना न केवल वैचारिक गहराई लिए है, बल्कि पाठक को खुद के भीतर उतरने की प्रेरणा भी देती है। यह ग़ज़ल रूहानी पड़ताल है - पहचान, परछाईं और परवरिश के उन धागों की, जिनसे हमारी सोच की चादर बुनी जाती है।

ग़ज़ल: "रूह की विरासत:
अनदेखी छवियों की तलाश"

(हमारी सोच और स्वभाव का ढाँचा किसी पुराने अनजाने असर से तैयार हुआ, पर जब हमने खुद को पहचानने की कोशिश की - तब अहसास हुआ कि वह पहचान असली नहीं थी; उसमें कुछ खोखलापन, कोई बनावटी असर था।)

दिल पे असर हो रहा है और मुझे पता ही नहीं
ये किसका ख़याल आया, कोई सदा ही नहीं

कभी इक निगाह-ए-नाज़ ने छू लिया मुझे
लगा कुछ है दिल में मगर दास्ताँ ही नहीं

जो लफ़्ज़ सुने थे माँ की लोरियों में कभी
वही बन गए आईना और कोई वजह ही नहीं

हम उठते रहे एक नामालूम बोझ के साथ
ये कैसा है रिश्ता, जब कोई रिश्ता ही नहीं

कभी कोई आवाज़, कभी कोई धुंधली सी याद
छिपी है जहन में, पर उस पे कोई रौशनी नहीं

जो रंग चढ़े थे बरसों पुराने लिबास पर
उतरते नहीं अब, कोई तरकीब मिलती ही नहीं

गुज़िश्ता तबीयत की तामीर में कुछ था ज़रूर
मगर वो नज़र आ सके वो कोई आईना ही नहीं

वो बातें, जो साँसों में घुलती रहीं साल-हा-साल
असर कर गईं यूँ, उसकी कोई मंज़िल ही नहीं

कभी रस्म ओ रिवायत, कभी तालीम-ए-दीन थी
जो सिखाया गया वो क्या था , कुछ पता ही नहीं

मोहब्बत, अदावत, तअस्सुब—विरासत में पाया,
आईना न बता सका , और कुछ इल्म ही नहीं

हम वही हैं जो सोचे किसी और ने हमारे लिए
'शफ़क़' हयात अपनी है, पर इख़्तियार ही नहीं

असर: प्रभाव, असर पड़ना
सदा: आवाज़, पुकार
निगाह-ए-नाज़: प्यार भरी नज़र
जहन: मन, मस्तिष्क
गुज़िश्ता: बीता हुआ, पुराना
तामीर: निर्माण, बनावट
रस्म ओ रिवायत: सामाजिक परंपराएं
तालीम-ए-दीन: धार्मिक शिक्षा
अदावत: दुश्मनी, वैर
तअस्सुब: पक्षपात, पूर्वाग्रह
विरासत: पैतृक सम्पत्ति या परंपरा
इल्म: ज्ञान
हयात: जीवन
इख़्तियार: नियंत्रण, अधिकार

ग़ज़ल: 'गिनती बोलती है'

प्रस्तावना:

जब सच को तौलने का पैमाना संवेदना या तर्क नहीं, बल्कि आँकड़े बन जाएँ - तब समाज का आइना दरअसल स्क्रीन पर चमकती ग्राफ़ की लकीरें बन जाता है। 'शफ़क़' की यह ग़ज़ल 'गिनती बोलती है' इसी खतरनाक यथार्थ को बेहद धारदार और सूक्ष्म अंदाज़ में उजागर करती है। यह सिर्फ एक ग़ज़ल नहीं, बल्कि वर्तमान लोकतंत्र, मीडिया, और सामाजिक चेतना पर एक तीखा और गूंजता हुआ सवाल है।

'क़ीमतें इंसाँ की अब गिनती से तय होती हैं...'

पहले ही मिसरे में यह स्पष्ट हो जाता है कि अब अस्लियत का वज़न, उसकी गहराई से नहीं, उसकी गिनती और 'रेटिंग' से आँका जाता है।

- रचना में दिखाया गया है कि
- कैसे हक़ बात भीड़ में कुचली जाती है,
- कैसे बहसें हक़ को दबाने का ज़रिया बन जाती हैं,
- और कैसे झूठ जब आँकड़ों के कपड़े पहनता है, तब उसे ही सच मान लिया जाता है।

ग़ज़ल का हर शेर एक सामाजिक विसंगति की कलमबद्ध तस्वीर है, जहाँ 'डेटा' और 'ट्रेंड' के शोर में सच, समझदारी और संवेदना मूक हो चुकी हैं।

'लफ्ज़ जब बिकने लगे 'डेटा' की मंडी में
हर ग़ज़ल अब किसी टूल की तरह गूँगी होती है'

यह शेर न सिर्फ साहित्य की स्थिति पर टिप्पणी करता है, बल्कि विचारों के बाज़ारीकरण की त्रासदी को भी सामने रखता है। ये रचना इस सदी की उस हकीकत को उधेड़ती है, जिसमें ना गिना जाना भी गुनाह बन चुका है। यह ग़ज़ल उन तमाम लोगों के लिए एक आईना है जो भीड़ में अपनी आवाज़ ढूंढ़ते हैं, और कभी सोचते हैं - क्या सिर्फ़ गिनती में न होना हमारी गलती है? यह ग़ज़ल समकालीन चेतना का बयान है - तल्ख़, विचारोत्तेजक, और ज़रूरी। और शायद यही इसकी सबसे बड़ी ताक़त है।

ग़ज़ल: 'गिनती बोलती है'

क़ीमतें इंसाँ की अब गिनती से तै होती हैं
भीड़ में सच्चाई अक्सर ख़ामोश होती है

हर ग़लत फ़ैसले को बहस से सच ठहरा दो
अब तो हर तर्ज़े-सवालात पे मोहरें लगती हैं

गिनतीयों के खेल में हक़ बात रौंदी जाती
सिर्फ़ तालीम नहीं, जज़्बात भी बिकती हैं

भीड़ में वो शख़्स जो सच कह रहा होता है
वो आवाज़ नक्कारखाने की तूती सी दफ़्न होती है

झूठ जब आँकड़ों के मेकअप में आता है
हक़ परस्ती की वहीं ज़िल्लत होती है

हर सियासी फ़लसफ़ा अब "रेटिंग" से चलने लगा
हक़परस्तों की तो तादाद भी गुनाह होती है
सदक़तें चीख़ती हैं, पर गिनती नहीं आती
भीड़ बस "ट्रेंड" में हो तो क्या ख़ता होती है

लफ्ज़ जब बिकने लगे "डेटा" की मंडी में
हर ग़ज़ल अब किसी टूल की तरह गूँगी होती है

तर्जुमाँ अब वो बने हैं जो कभी थे नादाँ
और समझदारों की पहचान ही साज़िश होती है

हमने देखा है ज़माने को तिजारत बनते
अब सियासत नहीं, तर्ज़े-हिसाबदारी होती है

तू भी गिनती में नहीं है तो ख़बरदार रहो'शफ़क़'
इस सदी में ना गिना जाना सज़ा होती है

तर्ज़े-सवालात: प्रश्न पूछने का तरीका
मोहरें: सरकारी मुहरें, स्वीकृति की निशानी
गिनतीयों: गिनतियों
हक़: अधिकार, सत्य
जज़्बात: भावनाएँ

नक्कारखाने की तूती: नगाड़ों के बीच तूती की आवाज, मुहावरा
सियासी फ़लसफ़ा: राजनीति का दर्शन
हक़परस्तों: सच्चाई या न्याय के पक्षधर लोग
तादाद: संख्या
सदक़तें: सच्चाइयाँ
तर्जुमाँ: प्रतिनिधि, बोलने वाला
तिजारत: व्यापार ,
तर्ज़े-हिसाबदारी: लेन-देन का हिसाब
नादाँ: अज्ञानी, अनजान

ग़ज़ल: 'वक़्त रेत-सा फिसलता है'

प्रस्तावना:

वक़्त - जिसे हम घड़ी की सुइयों में खोजते हैं, कैलेंडर के पन्नों में दर्ज करते हैं, या डिजिटल स्क्रीन पर नापते हैं - असल में रेत-सा है, जो हथेलियों से फिसलता भी है, और निशान भी छोड़ता है। 'शफ़क़' की यह ग़ज़ल वक़्त की उसी अदृश्य, मगर प्रभावशाली उपस्थिति को भावनाओं की मख़मली ज़बान देती है। यह ग़ज़ल सिर्फ समय के बहाव की बात नहीं करती - यह उस गूंगे संवाद की पड़ताल करती है जो वक़्त हर इंसान से करता है - कभी खामोशी से, कभी ज़ख़्मों के ज़रिए, तो कभी यादों की फुहार में।

'वक़्त हर साँस में बेमोल-सा फिसलता है
यूँ लगे रेत का दरिया मुझे निगलता है'

शुरुआती शेर से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि यह कोई रूढ़ ग़ज़ल नहीं, बल्कि एक दार्शनिक यात्रा है, जिसमें वक़्त नायक भी है और खलनायक भी - वह उम्र को छलता भी है, ख़्वाबों को निगलता भी है, और इतिहास रचता भी है।

'शफ़क़' ने हर शेर में वक़्त की किसी नई परछाईं को पकड़ने की कोशिश की है:

- कहीं वह जीवन की भंगुरता को दर्शाता है,
- कहीं वक़्त की क्रूर तटस्थता सामने आती है,
- और कहीं वह एक सुकूत भरे शायर की तरह हमारी नज़रों से चुपचाप बहता है।

'वो सुल्तान है, ताजों को भी फना करता है
कब कहाँ किसको बदल दे, वक़्त ही चलता है'

यह शेर महज़ वक़्त की ताक़त का नहीं, मानव अहंकार की क्षणभंगुरता का भी दस्तावेज़ है।

और फिर अंतिम शेर:

'शफ़क़' वक़्त को मत देख यूँ बस गुज़रते हुए
ये तेरे होने का दस्तावेज़ भी वक़्त ही बनता है'

यह पंक्ति पूरी ग़ज़ल का निचोड़ है - हम वक़्त को जीते नहीं, वक़्त हमें लिखता है। यह ग़ज़ल एक भावनात्मक दस्तावेज़ है जिसमें हर पाठक को अपना कोई बीता लम्हा, कोई टूटा ख्वाब, या कोई अनकहा अहसास ज़रूर मिल जाएगा। शायर ने वक़्त को नापा नहीं, महसूस किया है- और यही इस रचना की सबसे बड़ी ख़ूबसूरती है।

ग़ज़ल: ‘वक़्त रेत-सा फिसलता है’

वक़्त हर साँस में बेमोल-सा फिसलता है
यूँ लगे रेत का दरिया मुझे निगलता है

एक काँचीन घड़ी बोलती है ख़ामोश सी
ऊपर से नीचे हर लम्हा यूँ फिसलता है

हम जिसे थामने की जिद में हैं हर पल
वो ही चुपचाप हमारी उम्र को छलता है

रूह के साथ भी चलता है ये बेआवाज़
और फिर ख़्वाब के हर रंग को निगलता है

किस क़दर नाज़ुक है हर पल की ये तामीर
एक ही भूल में सदियों का वक़्त जलता है

ज़िन्दगी धूप है, छाया है, धुआँ भी है
हर नया मोड़ कोई तज्रिबा उगलता है

तू जिसे आज समझता है बस एक लम्हा
कल उसी लम्हे का अफ़साना दिल में पलता है

वो सुल्तान है, ताजों को भी फना करता है
कब कहाँ किसको बदल दे, वक़्त ही चलता है

ताज मिट्टी में दबे हैं इसी के क़दमों से
और एक ख़ाक-नशीं अब सिंहासन पर पलता है

वक़्त के पास न कोई तख़्त है, न दरबारी
मगर हर दौर उसी की कहानी कहता है

कब मिला कौन कहाँ, किससे बिछड़ना था हमें
सब वक़्त ही तय करता है, और सब सहता है

कोई तन्हा है कहीं, वक़्त की रफ़्तार से
कोई महफ़िल में भी चुपचाप सा बहलता है

कह नहीं पाते जिसे हम, वो ही समझता है
वक़्त भी एक सुकूत में शाइराना चलता है

‘शफ़क़’ वक़्त को मत देख यूँ बस गुज़रते हुए
ये तेरे होने का दस्तावेज़ भी वक़्त ही बनता है

काँचीन घड़ी: काँच की रेत-घड़ी
छल-धोखा
रूह -आत्मा
तामीर-निर्माण, किसी चीज़ का बनना
तज्रिबा-अनुभव
अफ़साना: कहानी, बीती बात जो याद बन जाये
दस्तावेज़-प्रमाण, रिकार्ड
तख़्त-सिंहासन, सत्ता का प्रतीक
ख़ाक-नशीं-साधारण इंसान
सुकूत-मौन, ख़ामोशी
शाइराना-काव्यात्मक, रचनात्मक

ग़ज़लः 'चराग़-ए-रूह'

प्रस्तावना:

रूह - न तो किसी तस्वीर में बंधती है, न किसी तर्जुमा में उतरती है। यह नमी-सी चीज़ है जो ज़िंदगी की दरारों में बसती है, सन्नाटों में बोलती है और आँधियों में भी जलती रहती है। 'शफ़क़' की यह ग़ज़ल 'चराग़-ए-रूह' आत्मा के उसी उजाले को आवाज़ देती है - जो वक़्त, ज़ख़्म, और तजुर्बे से निखरता है, मगर बुझता नहीं।

'बुझा नहीं जो कभी, आँधियों में रौशन रहा
वही चराग़-ए-रूह है, जो कभी बुझता नहीं'

इस मिसरे में वह भीतर की लौ झलकती है जो न दिखती है, न डगमगाती है - मगर वजूद की तहों को रोशन करती है। यह ग़ज़ल आत्मा की आवाज़ को सुनने और भीतर की सच्चाई को पहचानने की पुकार है:

- जो इंसान भीतर से सच्चा होता है, समय के थपेड़े भी उसे मोड़ नहीं सकते।
- दर्द को महसूस करने वाली रूह, उसे शब्दों या आँसुओं में नहीं बहाती - उसे राग में ढाल देती है।
- सच, सुकून, और स्थायित्व - ये सब बाहर नहीं, अंदर की तलाश में छुपे हैं।

'हर साँस, हर इक तजुर्बा, रूह की इक सदा है
'शफ़क़' जो वक़्त को सुन ले, वो निराश होता नहीं'

अंतिम शेर में यह ग़ज़ल एक जीवन-दर्शन बन जाती है - जहाँ हर अनुभव, हर खामोशी, हर दर्द, और हर आशा, रूह के संवाद की एक परछाई है।

'चराग़-ए-रूह' एक ऐसी काव्य यात्रा है जो आत्मा की नमी, सच्चाई की तपिश, और जीवन की गहराई — तीनों को अपने अशआरों में पिरोती है। यह ग़ज़ल हिम्मत, सच्चाई और आत्मिक उजाले की गाथा है — और आज के दौर में, ऐसी रचनाएँ खुद एक चराग़ हैं।

ग़ज़ल: 'चराग़-ए-रूह'

बुझा नहीं जो कभी, आँधियों में रौशन रहा
वही चराग़-ए-रूह है, जो कभी बुझता नहीं

हर एक टीस में इक राग खोज लेती है
ये रूह है, जो कभी ज़ख़्म पर भी रोती नहीं

बहुत से चेहरे लगाए जहाँ ने वक़्त के साथ
मगर जो अंदर से ख़रा हो, वो बदलता नहीं

कभी किसी सोच में, कभी ख़ुदी की तलाश में
मगर जो खुद से मिला हो, वो फिर भटकता नहीं

सुलगते अहसास भी राह बनाते हैं कई
जो रूह की सुन सके, वो दर्द भी ढोता नहीं

बहुत से शोर में, कुछ ख़ामोशियाँ बोलीं
जो सुन सके दिल की आवाज़, वो फिर झुकता नहीं

न जाने कितनी दुआएँ, न जाने कितने सवाल
मगर जो रूह से निकले, वो बेअसर होता नहीं

वक़्त की धड़कनों में छुपी है रूह की सदा
जो जान ले इस ख़ज़ाने को, फिर खोता नहीं

हर साँस, हर इक तजुर्बा, रूह की इक सदा है
'शफ़क़' जो वक़्त को सुन ले, वो निराश होता नहीं

चराग़-ए-रूह: आत्मा का दीपक / आत्मा की रौशनी
सदा: आवाज़, पुकार
ख़ुदी: आत्मा, आत्मस्वाभिमान

ग़ज़ल: 'तेरे अक्श से बात करनी है'

प्रस्तावना:

जब कोई ग़ज़ल महज़ अश्आर नहीं, बल्कि एक रूहानी संवाद बन जाए - नज़्म से आगे जाकर ज़ेहन और दिल की सरहदों को छूने लगे - तब वो एक नज़्म नहीं, एक सुकून बन जाती है। यह ग़ज़ल 'तेरे अक्श से बात करनी है' ठीक वैसी ही एक रचना है - जहाँ जुदाई कोई शिकायत नहीं, और यादें कोई बोझ नहीं; बल्कि एक आत्मीय संवाद हैं, ख़ामोश साँसों में पनपती हुई चुपचाप राहतें। यह ग़ज़ल उस नज़्मगूँ संवाद की तरह है, जहाँ हर शेर एक लम्हा है - कभी भीगी हुई रातों जैसा, कभी वीरान दिल में चुपचाप टपकती पुरानी सदा जैसा। यहाँ प्रेम की पराकाष्ठा में शिकायत नहीं, बल्कि एक सम्मान है; यहाँ यादें सिर्फ़ ज़ख़्म नहीं, बल्कि उनकी मरहम बन चुकी हैं। हर मिसरे में एक तहरीरशुदा ताजगी है, एक मद्धम रौशनी है, जो न उम्मीद के बोझ से टूटी है, न वियोग की तल्खिय़ों में जली है। 'तेरे लब तो फ़क़त मिसरा नहीं, एहसास की तर्जुमानी हैं'- जैसे शेर उस भाषा में जन्म लेते हैं जो दिलों में रहती है, और ल़फ्ज़ों से आगे जाती है।
यह ग़ज़ल महज़ पाठ नहीं, पाठक के भीतर से उठती एक सधी हुई ख़ामोशी का प्रतिरूप है। इसमें हर पाठक खुद को उस 'तेरे अक्श' में कहीं न कहीं देख लेता है - और फिर उसी अक्स से बात करने बैठ जाता है.

ग़ज़ल: 'तेरे अक्श से बात करनी है'

न शिकवा कोई, न गिला- बस तेरा ज़िक्र साथ करनी है
तन्हा सी इन साँसों को अब तेरे अक़्स से बात करनी है

हमारी तो ख़्वाहिश थी दिल को कोई राहत मिल जाए
हमें तो बस इक याद-ए-कुहन से थोड़ी बात करनी है

तेरी सदा की नमी अभी तक दिल के वीरानों में है
इस सन्नाटे में रूहानी सी कुछ सौग़ात करनी है

भीगती हैं रातें अक्सर तेरी ख़ामोश यादों में
उन लम्हों से बैठ कर आज फिर सरगुश्तात करनी है

तेरे लब तो फ़क़त मिसरा नहीं, एहसास की तर्जुमानी हैं
उन्हें पढ़ के फिर दिल से जज़्बातों की बात करनी है

कभी ज़ख़्म भी यादों में आकर मरहम बन जाते हैं
उन्हीं वादों से आज फिर इक प्यारी बात करनी है

'शफ़क़' इस वीराने को भी कोई रौशनी अता कर दे
तुझसे मिलकर अब उसी दिल की हर बात करनी है

शिकवा: शिकायत
गिला: उलाहना, नाराज़गी
जिक्र: बातचीत
अक़्स: प्रतिबिंब, छवि
याद-ए-कुहन: पुरानी याद
रूहानी: आत्मिक
सौग़ात: उपहार, भेंट
सरगुश्तात: धीमी-धीमी सी बातें
लब: होंठ
मिसरा: शेर की एक पंक्ति
तर्जुमानी: भावों की व्याख्या

नज़्म: 'बस यूँ ही...
(एक बेवजह सी ज़िंदगी)'

प्रस्तावना:

कुछ ल़फ्ज़ कहे नहीं जाते, और कुछ जिए नहीं जाते - वो बस महसूस होते हैं, ख़ामोशी के उन सिरों से जिन्हें शब्दों की ज़रूरत नहीं होती। यह नज़्म 'बस यूँ ही...' ठीक उसी जज़्बे की पैदाइश है — जहाँ ज़िंदगी का कोई इरादा नहीं, कोई ठिकाना नहीं, मगर फिर भी हर साँस में एक गहराई, हर पल में एक अनकही कहानी छिपी है। यह नज़्म एक ऐसे अहसास की दास्तान है, जहाँ न कोई इश्क़ का इकरार है, न जुदाई की शिकायत; मगर फिर भी एक नामालूम सी नज़दीकी, एक बेआवाज़ सी दूरी दोनों साथ-साथ चलती हैं। यह वो प्रेम है जो बयान नहीं हुआ, लेकिन गुज़रते वक़्त में दर्ज हो गया। शफ़क़' की लेखनी यहाँ ज़िंदगी के उन कोनों को टटोलती है, जो अक्सर अनदेखे रह जाते हैं - जैसे किसी की याद में भीगती चाय की प्याली, किसी सूनसान मोड़ पर दिखती परछाईं, या किसी ख़्वाब की मुस्कराहट में छिपा हुआ अतीत। हर पंक्ति एक दर्पण है, जिसमें पाठक अपनी ही अधूरी कहानियाँ पढ़ सकता है।

'तेरे बिना भी, तेरे साथ- गुज़र रही ज़िंदगी...'

यह पंक्ति नज़्म का सार ही नहीं, एक ऐसा फ़लसफ़ा है जो बताता है कि कुछ रिश्ते न मुकम्मल होकर भी मुकम्मल हो जाते हैं। यह नज़्म पढ़ते हुए दिल कहीं ठहर जाता है, और फिर वही ठहराव ज़िंदगी की सबसे सच्ची ऱफ्तार बन जाता है।

नज़्म: 'बस यूँ ही...
(एक बेवजह सी ज़िंदगी)'

तू न पास है,
न दूर...
मैं भी न पूछता हूँ तुझसे कुछ,
तू भी कुछ नहीं कहती...
मगर फिर भी
तेरी ख़ामोशी से लफ़्ज़ चुरा लेता हूँ -
बस यूँ ही गुज़र रही ज़िन्दगी।

न मोहब्बत जताई तुझसे कभी,
न जुदाई को नाम दिया,
बस वक़्त की धुंध में
तेरी याद को चुपचाप पहन लिया -
जैसे कोई पुरानी ख़ुशबू हो…
बस यूँ ही गुज़र रही ज़िन्दगी।

कभी-कभी सोचता हूँ,
अगर तू सामने बैठी होती -
तो क्या मैं कुछ कह पाता?
या तेरी आँखों की नमी में
अपना अक्स ही ढूँढता रहता?
बस इतनी सी मुलाक़ात में ही
सिमट जाती मेरी दुनिया…
बस यूँ ही गुज़र रही ज़िन्दगी।

जो पल हमने साथ नहीं जिए,
वो भी जाने क्यों
इतने अपने लगते हैं…
जैसे उन अधूरे पलों में
हमने एक-दूसरे को और गहराई से छू लिया हो…
मैं आज भी उन्हें
चाय की प्याली में डुबाकर
तेरे हिस्से की चुप्पियाँ पीता हूँ…
बस यूँ ही गुज़र रही ज़िन्दगी।

कभी तू ख़्वाबों में आकर मुस्कुरा देती है,
कभी सड़कों के कोनों में
तेरी परछाईं दिख जाती है,
और मैं -
हर चेहरे में तुझे टटोलता हुआ
तेरी गैर-मौजूदगी के साथ
चलता जाता हूँ…
बस यूँ ही गुज़र रही ज़िन्दगी

अब शिकवा नहीं,
न इंतज़ार का कोई मौसम बाकी है,
तू रही न रही -
मगर तेरी याद
एक साँस की तरह
हर पल मेरे साथ चलती रही...

और मैं -
बेवजह ही सही,
रूह से रूह तक
तेरे एहसास के सफ़र में
मुकम्मल होता रहा...

बस यूँ ही -
तेरे बिना भी
तेरे साथ
गुज़र रही ज़िन्दगी।

ग़ज़ल: 'कुछ कर गुज़र'

प्रस्तावना:

हर दौर में कुछ लफ़्ज़ आग की तरह रास्ता बनाते हैं - और कुछ शेर, मशाल बनकर अंधेरों में उम्मीद की रौशनी करते हैं। यह ग़ज़ल 'कुछ कर गुज़र' उसी आग और रौशनी का संगम है - जहाँ हर मिसरा सिर्फ़ कहता नहीं, जगाता है; और हर बहर किसी ठहरी सोच को हरकत में बदल देती है।

यह ग़ज़ल हौसलों की आवाज़ है - उन लोगों के लिए जो ज़िंदगी से सिर्फ़ जीना नहीं, कुछ कर गुज़रना चाहते हैं। इसमें आँधियों को चुनौती है, ठहराव को तिरस्कार है, और हार को एक नए मोड़ पर छोड़ देने का बुलंद हौसला है।

'चल पड़ा जो तन्हा ही, उसी को ज़िंदगी कहते हैं' -

यह सिर्फ़ शेर नहीं, एक पूरी सोच का निचोड़ है जो कहता है: तन्हाई, संघर्ष और सफ़र - यही असली पहचान हैं जीने की।

लेखनी यहाँ आत्मविश्वास को नारा नहीं, नज़्म बनाकर पेश करती है। यह ग़ज़ल उन किरदारों का सम्मान है जो मज़दूर बनकर पसीना बहाते हैं और शायर बनकर दिल बहलाते हैं, जो तूफ़ानों से लड़ते हैं, मगर अश्क़ छुपा लेते हैं।

यह ग़ज़ल उस हर इंसान को समर्पित है,

- जो ख्वाब देखता है पर ठहरता नहीं,
- जो दुनिया की हदों से आगे सोचता है,
- और जो हर गुस्ताख़ ख़्वाब को अपना हक़ समझता है।

'ये उम्र है कुछ कर गुज़रने की...'

एक पुकार है - जो हर पाठक के भीतर की नींद तोड़ती है, और कहती है:

अब उठो। अब चलो। अब कर गुज़रो।

ग़ज़ल: 'कुछ कर गुज़र'

कहीं जो थाम ले आँधी, उसी को रौशनी कहते हैं
चल पड़ा जो तन्हा ही उसी को ज़िंदगी कहते हैं

सफ़र की धूप सहकर भी जो चेहरे मुस्कुराते हैं
वही तो अपने हौसलों से किस्से नये बनाते हैं

जो ख़ुद से हार कर बैठे, उन्हें जमाना भुला देता
जो दिल से जीत करते हैं, वही तो फ़तह पाते हैं

जिन्हें तू बेपरवाह कह रहा, वो ख्वाबों के मुसाफ़िर हैं
ख़्वाब हकीकत में बदल देते हैं जो मसरूफ़ रहते हैं

उठा जज़्बा उस दिल का, जो तूफ़ानों से लड़ता है
जो पत्थर तोड़ सकते हैं, वो आँसू भी छुपाते हैं

कभी मज़दूर बन जाना, कभी शायर भी हो जाना
जो किरदारों में ढल जाएँ, वही अफ़्साने बनाते हैं

न पूछ जुनूँ क्या देगा, न गिन नुक़सान या फ़ायदे
ये तजुर्बे ही तो सीने पर लिखे हुए पैग़ाम होते हैं

जो हद में सोचते हैं सब, वो क़ाफ़िला नहीं होते
जिन्हें परवाज़ प्यारी हो, वही ऊँचाइयाँ छूते हैं

ये उम्र है कुछ कर गुज़रने की, न तकरार से डर, न हार से 'शफ़क़'
जो ख़्वाब बुनते हैं - वो गुस्ताख़ियों का हक़ रखते हैं

जुनूँ: जुनून
मसरूफ़: व्यस्त
अफ़साने: कहानियाँ, किस्से
फतह: विजय, जीत
परवाज़: उड़ान
गुस्ताख़ियाँ: मर्यादा के विरुद्ध साहस

ग़ज़ल: 'देखते रह गए...'

प्रस्तावना:

कुछ ग़ज़लें सिर्फ़ पढ़ी नहीं जातीं - वो महसूस होती हैं। जैसे किसी दबी हुई साँस की सिसकी, या किसी बीते लम्हे की परछाईं - जो आवाज़ नहीं करती, लेकिन दिल की दीवारों पर आहिस्ता-आहिस्ता दस्तक देती रहती है। यह ग़ज़ल 'देखते रह गए...' उन्हीं दस्तकों की एक बुनावट है, जिसमें मोहब्बत, जुदाई, उम्मीद और इंतज़ार - सब एक मद्धम रोशनी की तरह बिखरे हैं।

यह ग़ज़ल उस 'लगाव के बेआवाज़ सिलसिले' की कहानी है, जहाँ कोई आया, छू गया, और चला गया - मगर पीछे एक ऐसा खालीपन छोड़ गया जिसे भरने की कोशिश कभी पूरी नहीं हुई।

'वो आई थी कुछ पल को जैसे कोई ख़्वाब उतर आए...'

इस एक मिसरे में पूरी ग़ज़ल की रूह छुपी है- और शायद हर उस शख्स की भी, जो कभी किसी की मौजूदगी से भरा था, और अब उसकी गैर-मौजूदगी से गूंजता है। गजल का अंदाज़-ए-बयाँ सधा हुआ, लेकिन बेहद गहरा है। वो हर शेर में कोई बड़ा दावा नहीं करते - मगर हर मिसरा एक छोटी सी चुप्पी में भी बहुत कुछ कह जाता है।

यह ग़ज़ल एक आईने की तरह है - जो कभी हक़ीक़त दिखाती है, कभी उन चेहरों की परछाईं जो कभी थे ही नहीं, और कभी उन फ़ासलों की दूरी जो तय हो ही नहीं सकी।

'हम तो ज़िंदा रहे, बस हादसा ही देखते रहे...'

ग़ज़ल का यह अंतिम शेर सिर्फ़ एक अंत नहीं, बल्कि एक ऐसा तिराहा है जहाँ से पाठक अपने-अपने दर्द की राह चुन सकता है।

यह ग़ज़ल उन सभी दिलों की आवाज़ है - जो कहते तो कुछ नहीं, पर उम्र भर देखते ही रहते हैं..

ग़ज़ल: 'देखते रह गए...'

कहीं से आई थी इक लहर सी, छू के चली गई
हम दर्द ओ अश्क में वो सिलसिला ही देखते रहे

न कोई नाम लिया, न कोई निशाँ छोड़ा
हम आईने में उसे हर दफ़ा ही देखते रहे

वो आई थी कुछ पल को जैसे कोई ख़्वाब उतर आए
हम बस उसकी परछाईं को उम्र भर देखते रहे

हर एक मोड़ पे सोचा वो शायद मिल ही जाए
मगर फिर भी उसी ग़लत फ़ासला ही देखते रहे

कभी जो दिल ने पुकारा, हवा भी थम सी गई
हम दस्तकों की सदा को हवा-हवा ही देखते रहे

वो शाम ढलती रही, और हम बुझते रहे अंदर
सिर्फ़ उस रौशनी का ही सिलसिला देखते रहे

'शफ़क़' ये इत्तेफ़ाक़ था या तदबीर थी उसकी
हम तो ज़िंदा रहे, बस हादसा ही देखते रहे

सिलसिला: क्रम
अश्क: आँसू
दस्तकों की सदा: खटखटाहट की आवाज़
तदबीर: योजना / उपाय
हादसा: दुर्घटना

ग़ज़लः 'ख़ुशफ़हम ही सही'

प्रस्तावना:

कभी-कभी ज़िंदगी को देखने का सबसे साहसी नज़रिया वही होता है जिसमें हम टूटकर भी मुस्कुरा देते हैं। यह ग़ज़ल 'ख़ुशफ़हम ही सही' उसी अद्भुत संतुलन की दास्तान है - जहाँ न यक़ीन पूरी तरह साबुत है, न शिकवा पूरी तरह तल्ख़; लेकिन हर शेर एक गहराई से भरी सच्चाई को सादगी से बयान करता है।

यह ग़ज़ल उन सब के लिए है

- जो रिश्तों की गिरहों में उलझे,
- तजुर्बों की तपिश से गुज़रे,
- और अब भी उम्मीद की चुप रौशनी में कुछ उजालों की तलाश में हैं।

'ऐ ज़िंदगी! ख़ुशफ़हम ही रहने दे मुझे...'

यह शेर महज़ इल्तिजा नहीं, बल्कि एक थकी हुई रूह की विनम्र बग़ावत है - जो कहती है कि हक़ीक़तें अगर ज़रूरत से ज़्यादा कड़वी हो जाएँ, तो थोड़ी मोहलत दे देना, थोड़ी मिठास छोड़ देना।

इस ग़ज़ल के माध्यम से एक ऐसा दर्द उभरता है जो शोर नहीं करता - बल्कि भीतर ही भीतर पाठक को खोलता है, सहेजता है।

यह ग़ज़ल उस तलाश की भी दास्तान है जो अपनों में अजनबियों को और अजनबियों में कभी अपना सा साया खोजती है।

'अब हँस के सहता हूँ तल्ख़ी की बात भी,
सीखा है दर्द को भी दिल पर है इख़्तियार'

इन पंक्तियों में सिर्फ़ सब्र नहीं, बल्कि अपने घावों को ज़िन्दगी का हुनर बना लेने की कला भी है।

'ख़ुशफ़हम ही सही'- इस शीर्षक में ही वह किरकिरी चमक है, जो कहती है कि झूठी सही, लेकिन कुछ राहतें भी ज़रूरी हैं। इस ग़ज़ल की आत्मा यहीं बसती है: ज़िंदगी से जूझते हुए भी उसे एक दोस्त की तरह पुकार लेना।

यह रचना उन तमाम दिलों का आईना है -
जो टूटे भी, थके भी, मगर अब भी अपने बचे हुए यक़ीन को सबसे वफ़ादार मानते हैं।

ग़ज़लः 'ख़ुशफ़हम ही सही'

ऐ ज़िन्दगी ख़ुशफ़हम ही रहने दे मुझे, यूँ उदास न कर
कुछ ही अपने बचे हैं, रहने दे मुझे ख़ुशगवार

ऐ ज़िंदगी! अब और कितने तजुर्बे तू कराएगी
कोई तो रिश्ता बचा रहे, सभी को बेनक़ाब न कर

चेहरों की भीड़ में अब आईना मत बना
हर शख़्स के अंदर छुपा है इक ज़ख़्म-दार

ज़िंदा तो हूँ मगर साँसों में कोई चैन नहीं
तू हाल-ए-दिल पूछ कर न कर और बेकरार

क़िस्मत ने हर मोड़ पर चुपके से दगा दी
अब हौसला भी थक गया, अब न कर नादिरा वार

तू पास है मगर तन्हाइयों का शोर क्यों है
क्या दिल से दिल की राहों में हैं कोई दीवार?

हर बार ज़िंदगी ने कुछ ऐसा सबक दिया
हँसते हुए लबों को भी चढ़ने लगा ख़ुमार

वो जो तसल्लियों में लफ़्ज़ बाँटता रहा
उसने ही सी दिए हैं हर सवाल पर सरोकार

कितनी बार टूटे हैं, गिने किस किस ग़म को हम
अब आंसुओं से कहते हैं — तुम भी रहो तैयार

अब हँस के सहता हूँ तल्ख़ी की बात भी
सीखा है दर्द को भी दिल पर है इख़्तियार

वो जो सदा मेरे अपनों में शामिल रहा
अजनबी बन गया, बस एक रोज़ के बाद

'शफ़क़' अब इतना ही काफ़ी है पहचान के लिए,
जो अब भी अपना है, वो है सबसे वफ़ादार

ख़ुशफ़हम: अपने हाल में संतुष्ट, भ्रम में सुखी रहना
तजुर्बे: अनुभव
ख़ुशगवार: सुखद, शांति से भरा
ज़ख़्म-दार: दुख भरा व्यक्ति
बेकरार: बेचैन
नादिरा वार: अनोखा या अप्रत्याशित वार/आघात
तन्हाइयाँ: अकेलापन
दीवार: बाधा
लब: होंठ
ख़ुमार: हल्का नशा, असर
तसल्लियाँ: सांत्वनाएँ
सरोकार: संबंध, जटिलता
इख़्तियार: नियंत्रण, अधिकार
तल्ख़: तीखी, कटु

ग़ज़ल: 'नसीहत नस्लों को'

प्रस्तावना:

जब ज़माना तेज़ी से आगे बढ़ रहा हो - मगर तहज़ीब पीछे छूट रही हो, जब साज़िशें ऊँची आवाज़ में बोलती हों और अदब की ज़ुबान खामोश पड़ गई हो - तब ऐसे वक़्त में कुछ रचनाएँ दस्तावेज़ नहीं, दीपक बनकर आती हैं। यह ग़ज़ल 'नसीहत नस्लों को' उसी रौशनी की लौ है - जो आने वाली नस्लों को सिर्फ़ राह नहीं दिखाती, रास्ता सलीक़े से चलना भी सिखाती है।

यह ग़ज़ल शेरो-शायरी की ज़मीन पर तहज़ीब, आदाब, और फ़िक्र की इमारत खड़ी करती है। हर शेर नसीहत का एक नरम लेकिन असरदार लहजा है, जो चीख़ता नहीं, समझाता है - और यही इसकी ख़ूबसूरती है।

'जो गुज़रे हैं लम्हे, सँभालो उन्हें...'

यह शुरुआत ही दरअसल उस एहसास की है कि यादें सिर्फ़ जीने के लिए नहीं, सहेजने के लिए भी होती हैं - ताकि आने वाली पीढ़ियाँ उन्हीं से इंसानियत के मायने सीख सकें।

शायर इस ग़ज़ल में सिर्फ़ शायर नहीं, एक संस्कारी दृष्टा बन जाते हैं - जो मोहब्बत, तहज़ीब, अदब और ज़ुबान की पाकीज़गी को अगली नस्लों तक पहुँचाने की ज़िम्मेदारी उठाते हैं।

'कलम जब उठाओ तो रक्खो खय़ाल,
कभी ज़ख्म बनकर न ढालो उन्हें' -

यह सिर्फ़ एक शेर नहीं, एक लेखक की ज़िम्मेदारी का आईना है।

इस ग़ज़ल में रिश्तों की नज़ाकत भी है, और विचारों की गहराई भी। यह नसीहत नहीं लगती - बल्कि किसी बुज़ुर्ग की वो नर्म बात लगती है, जो दिल में उतरती है और सालों तक याद रहती है।

'नस्लों को तहज़ीब देना है गर,
तो पहले मोहब्बत सिखाएँ उन्हें' -

यह सिर्फ़ शेर नहीं, आज के समय की सबसे बड़ी ज़रूरत का ऐलान है।

यह ग़ज़ल उन सब के लिए है

- जो चाहते हैं कि आने वाली पीढ़ियाँ सिर्फ़ तकनीक से नहीं, तमीज़ से भी तरक्की करें।
- जो समझते हैं कि सच्चा वारिस वही होता है जो जायदाद नहीं, ज़मीर छोड़ जाए।

ग़ज़ल: ‘नसीहत नस्लों को’

जो गुज़रे हैं लम्हे, सँभालो उन्हें
मुक़द्दर से पहले न टालो उन्हें

जहाँ में असर छोड़ जाना सीखो
न तोड़े कोई, न उछालो उन्हें

तअल्लुक़ को रक्खो अदब में ढला
न हर साज़ तुम ही बजालो उन्हें

सलीक़ा जो कहने का पैदा करो
सच भी कहो न उछालो उन्हें

बड़ों की दुआ में है ख़ुशबू भरी
ज़ुबां से न ठेसें निकालो उन्हें

अँधेरों से रिश्ता न गाढ़ा करो
उजालों की आदत डालो उन्हें

तहज़ीब की लौ को बुझने न दो
ग़ुरूरों में अपनी न पालो उन्हें

कलम जब उठाओ तो रक्खो ख़याल
कभी ज़ख़्म बनकर न ढालो उन्हें
तअल्लुफ़ में हो जो शराफ़त भरी
उन्हीं बातों में फिर सँवारो उन्हें

असर छोड़ जाओ फ़क़त नेकियाँ
सियासत से भी मत उछालो उन्हें

वो लहजा चुनो जो दुआ बन सके
जो मरहम बने दिल के हर ग़म उन्हें

नस्लों को तहज़ीब देना है गर
तो पहले मोहब्बत सिखाएँ उन्हें

वक़्त की गर्द में सब कुछ खो जाए
बस अदब और असर न छोड़े उन्हें

अदब: शिष्टता
असर: छाप
तअल्लुक़: रिश्ते नाते
तहज़ीब: सभ्यता संस्कार
गुरूर: अहंकार
सियासत: राजनीति
नस्लों: पीढ़ियों
गर्द: धूल

ग़ज़लः 'ओ सोने से पहले बहुत दूर जाना'

प्रस्तावनाः

कभी एक पंक्ति एक पूरी ज़िंदगी का नक़्शा बन जाती है - जैसे रॉबर्ट फ्रॉस्ट की अमर "And miles to go before I sleep", जिसने पीढ़ियों को यह समझाया कि थकान आख़िरी मुक़ाम नहीं, बल्कि एक पड़ाव है। इसी भावना को अपनी ज़मीन, अपनी ज़ुबान और अपनी रूह में ढालकर ग़ज़ल रची गयी है - 'ओ सोने से पहले बहुत दूर जाना' - वह न सिर्फ़ एक मौलिक रचना है, बल्कि वक़्त और वसीयत दोनों को जोड़ने वाली एक प्रेरक दस्तावेज़ भी है। यह ग़ज़ल उस ज़िम्मेदारी की सच्ची गूंज है जो हर पीढ़ी को अगली पीढ़ी के नाम सौंपनी चाहिए - सिर्फ़ सपने नहीं, सबक़ भी। इसमें थकान के लिए कोई बहाना नहीं, और रुकने के लिए कोई इजाज़त नहीं।

जो आँखें हैं रोशन, तो हर नींद तोड़ो
अभी ख्वाब बाक़ी - बहुत दूर जाना'

शायर की आवाज़ यहाँ प्रेरणा का रूप लेती है - एक ऐसे रहनुमा की तरह जो कहता है कि सफ़र कभी खत्म नहीं होता; मंज़िल के पास भी एक और रास्ता होता है।

यह ग़ज़ल अपने भीतर

- फ़र्ज़ की पुकार है,
- रिश्तों की परवाह है,
- ज़मीर की मशाल है,
- और विरासत की वह छाँव है जो सिर्फ़ नाम नहीं, निशान छोड़ना चाहती है।

'वसीयत में सिर्फ़ नाम काफ़ी नहीं है,
हक़ नहीं, फ़र्ज़ भी - बहुत दूर जाना'

यह शेर अपने आप में आज के समय की सबसे अहम तालीम है - जहाँ अक्सर लोग अपने अधिकार तो माँगते हैं, पर कर्तव्य से कतराते हैं।

यह ग़ज़ल पाठकों के दिलों में धीमे-धीमे जलती एक लौ की तरह है - जो कहती है कि थक कर बैठना एक विकल्प है, मगर उठ कर चल देना एक ज़रूरत।

यह ग़ज़ल सिर्फ़ पढ़ी नहीं जाती,
बल्कि सीने में लेकर चला जाता है-
क्योंकि अभी बहुत कुछ अधूरा है,
और हमें- बहुत दूर जाना है।

ग़ज़ल: 'ओ सोने से पहले बहुत दूर जाना'

(मेरी यह ग़ज़ल वाकर फ्रॉस्ट की कविता "The Woods " की एक पंक्ति "And miles to go before I sleep" पर आधारित है किंतु उसका अनुवाद न होकर मौलिक रचना है)

कई तहरीरें हैं और बहुत दूर जाना
अभी ज़िंदगी है-बहुत दूर जाना

बहुत कुछ बचाना, बहुत कुछ बनाना
अभी बसर नहीं है-बहुत दूर जाना

जो आँखें हैं रोशन, तो हर नींद तोड़ो
अभी ख़्वाब बाक़ी-बहुत दूर जाना

उम्र की ढलानों पे मत थम के बैठो
है इक कारवाँ-बहुत दूर जाना

जो बोया था कल में, वो पल अब सँवारो
वफ़ा का सिला है-बहुत दूर जाना

हर इक मोड़ को कुछ निशानी बना दो
है पीछे ज़माना-बहुत दूर जाना

न छूटे कहीं से ये रिश्तों की डोरी
ये बुनते बुनाते -बहुत दूर जाना

ये मिट्टी, ये सपना, ये मेहनत, ये साँसें
हैं अमानत नस्लों की - बहुत दूर जाना

न कहना कि अब सब मुकम्मल ही होगा
है हर लम्हा ताज़ा-बहुत दूर जाना

वसीयत में सिर्फ़ नाम काफ़ी नहीं है
हक़ नहीं, फ़र्ज़ भी -बहुत दूर जाना

शफ़क़' ख़ुद को मशाल बना ले अब
आँधियों से ये कहना-बहुत दूर जाना

तहरीरें: दस्तावेज़ / लेख
यहाँ भावार्थ -ज़िम्मेदारियाँ जो अभी शब्दों में नहीं आईं
बसर: यहाँ भावार्थ -अर्थपूर्ण जीवन यात्रा का संकेत
मुकम्मल: पूर्ण, पूरा

ग़ज़ल: 'बदलते चेहरे'

प्रस्तावना:

चेहरे तो सभी पहचान लेते हैं, लेकिन उनके पीछे छुपे बदलते लहजे, झूठी मुस्कानें और स्वार्थ की परतें - इन्हें समझना एक सच्चे शायर की नज़र का काम है। 'शफ़क़' की यह ग़ज़ल 'बदलते चेहरे' उसी पारखी नज़र का एक बेहतरीन नमूना है, जो दिखावे की चमक को चीर कर दिलों की असलियत तक पहुँचती है।

यह ग़ज़ल समय, संबंध और स्वार्थ के उस त्रिकोण को बेनक़ाब करती है जहाँ

- रिश्ते मौक़े से बंधे होते हैं,
- लहजे ज़रूरत से तय होते हैं,
- और चेहरों की हँसी महज़ दिखावे का पर्दा बन जाती है।

'किसी का भी यहाँ लहजा बदल जाता है,
ज़रा सा वक़्त हो, रिश्ता बदल जाता है'

इस शेर में वही कड़वी सच्चाई है, जो हर किसी ने कभी न कभी महसूस ज़रूर की है - और शायद उसी दर्द में यह ग़ज़ल सबसे सच्ची लगती है।

शायर की लेखनी यहाँ एक आईना बन जाती है - जो सिर्फ़ चेहरा नहीं, मिज़ाज, इरादा और चालाकी भी दिखा देती है।

'मुसलसल मुस्कराते हैं सभी चेहरों पे लोग,
आईना-ए-दिल का चेहरा बदल जाता है'

यह पंक्ति बताती है कि असली फ़र्क दिलों में होता है - और जब दिल बदलते हैं, तो हर चीज़ नक़ाब ओढ़ लेती है।

ग़ज़ल एक सामाजिक दस्तावेज़ बन जाती है - जो इंसान के किरदार, रिश्तों की रवायत और व्यवहार की हक़ीक़त को सामने लाती है - बिना चीखे, बिना ज़ोर डाले, सिर्फ़ ल़फ्ज़ों की तीखी नर्मी से।

''शफ़क़' पहचान इन आँखों की चालाकी ज़रा,
ज़रूरत के तअल्लुक़ से इशारा बदल जाता है'

यह शेर सिर्फ़ समापन नहीं, बल्कि एक चेतावनी भी है- कि पहचानने की कोशिश करो, वरना बदलते चेहरे तुम्हें भी बदल देंगे।

यह ग़ज़ल उन सभी के लिए एक आईना है -
जो रिश्तों में सच्चाई ढूँढ़ते हैं,
और हर बार छलावे में उलझ जाते हैं।

ग़ज़ल: 'बदलते चेहरे'

किसी का भी यहाँ लहजा बदल जाता है
ज़रा सा वक़्त हो, रिश्ता बदल जाता है

ज़रूरत में जो हमदम साथ दिखता है
बदले हालात में नक्शा बदल जाता है

मुसलसल मुस्कराते हैं सभी चेहरों पे लोग
आईना ए दिल का चेहरा बदल जाता है

जहाँ तक काम हो, सब कुछ बँटाते हैं वहीं
हक़ीक़त देख कर लहजा बदल जाता है

जिन्हें पहचानते थे दोस्त की सूरत में हम
मगर मतलब से वो चेहरा बदल जाता है

हुई गर एक मदद तो फ़रिश्ता समझा हमें
ज़रा इंकार से नज़र का मिज़ाज बदल जाता है
सलीक़ा, प्यार, तहज़ीब, सब मतलब तक
मगर सच सामने हो तो अंदाज़ बदल जाता है

तअल्लुक़ हो अगर मख़लूक़ से खुदगर्ज़ियों का
तो फिर इंसान का किरदार ही बदल जाता है

'शफ़क़' पहचान इन आँखों की चालाकी ज़रा
ज़रूरत के तअल्लुक़ से इशारा बदल जाता है

मुसलसल: हमेशा
नक्शा: स्वरूप, ढांचा
हमदम: सच्चा साथी
चेहरा: यहाँ प्रतीक रूप में व्यवहार
तअल्लुक़: संबंध, जुड़ाव
मख़लूक़: सृष्टि के जीव, खासकर इंसान

ख़ुदगर्ज़ी: स्वार्थपरता
तहज़ीब: सभ्यता, शिष्टता
छाँव: आश्रय, सुरक्षा

ग़ज़ल: 'रुख़ की रवानी'

प्रस्तावना:

उर्दू शायरी की समृद्ध परंपरा में एक अनमोल रचना है, जो ज़िंदगी के गहरे फ़लसफ़े को भावपूर्ण और प्रेरक अंदाज़ में पेश करती है। इस ग़ज़ल में शायर ने जीवन की राहों पर चलते हुए आने वाली चुनौतियों, हौसले की उड़ान, और सच्चाई व वफ़ा के साथ डटकर मुकाबला करने की भावना को बखूबी उकेरा है। प्रत्येक शेर एक अलग दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है, जो पाठक को आत्मचिंतन और प्रेरणा की ओर ले जाता है।

रुख़-ए-गिरदा' और 'ज़िद्दत' जैसे प्रतीकों के माध्यम से शायर ने समय के प्रवाह और मानवीय जज़्बे की जटिलता को दर्शाया है, जबकि 'दुआओं', 'हौसले', और 'वफ़ा' जैसे शब्द जीवन में आस्था और दृढ़ता की महत्ता को रेखांकित करते हैं। ग़ज़ल का हर शेर अपने आप में एक कहानी कहता है, जो सामाजिक, नैतिक और व्यक्तिगत मूल्यों को जोड़कर एक सार्वभौमिक संदेश देता है।

शफ़क़ की शायरी में भाषा की सादगी और गहराई का अनूठा संगम है। यह ग़ज़ल न केवल साहित्यिक दृष्टि से समृद्ध है, बल्कि यह पाठकों को अपने सपनों की ताबीर बनने और जीवन के समंदर से टकराने की प्रेरणा भी देती है। यह रचना हर उस मुसाफ़िर के लिए एक मार्गदर्शक है, जो अपनी मंज़िल की तलाश में हौसले और वफ़ा के साथ आगे बढ़ना चाहता है।

ग़ज़ल: 'रुख़ की रवानी'

बह गए वो लोग रुख़-ए-गिरदा के साथ
चल पड़े थे जो बेज़मीर ज़िद्दत के साथ

ज़िन्दगी का सबक़ लिख दिया राहों ने
हम चले जब भी उल्टी ही हवा के साथ

जो थमा रह गया भीड़ के डर से वहीं
क़ाफ़िला बढ़ गया हौसला-अदा के साथ

फ़र्ज़ वाले सूरज की मानिंद हुए रोशन
क़द्र किसको मिली साया-ए-चिराग़ के साथ

इक मुसाफ़िर हूँ, मंज़िल की पहचान है
मैं चला हूँ हमेशा ही दुआओं के साथ

सच के आगे झुके जो सलीक़े से बस
नाम रोशन हुए वो ही वफ़ा के साथ

तैरना है तो दरिया से उलझना पड़े
बेशुमार हैं जो बहते हैं क़ज़ा के साथ

रंग लाती है मेहनत भी उस वक़्त जब
नींव रख दी हो इमाँ-ओ-वफ़ा के साथ

हर नज़र ने कहा "रुक ज़रा सोच ले"
मैं बढ़ा फिर भी अपनी ही सदा के साथ

जो झुके वक़्त के सामने बे-असर
ख़ुद को पाया न उन्होंने वफ़ा के साथ

क़ैद कर ना सके वक़्त के ज़ुल्म भी
हम खड़े थे हिम्मत और सबब के साथ

आग ठंडी हुई उनके अन्दर अगर
क्या उभरते वो फिर रौशनी के साथ

गर समन्दर से टकरा सको तो चलो
कश्तियाँ कुछ ही चलती हैं दुआ के साथ

जो रहे साया-ए-आराम में उम्र भर
वो कहाँ चल सके हौसलों के साथ

कुछ चराग़ों को आँधियाँ क्या बुझाएँ
जो जले हैं आँधियों की सज़ा के साथ

दौर बदला तो बदले नहीं हम कभी
हम खड़े हैं अभी भी उसी "ना" के साथ

फ़लसफ़ा तैरने का यही कह गया —
डूब जाते हैं जो चलते बहा के साथ

शफ़क़' अब तू भी ताबीर बन ख़्वाब की
इक मिसाल रख दे अपनी अदा के साथ

रुख़-ए-गिरदा - हवा का बहाव, प्रवाह की दिशा
बेज़मीर - आत्मसम्मानहीन
ज़िद्दत - तीव्र ललक
हौसला-अदा - साहस और कर्म की खूबी
साया-ए-चिराग़— दीपक की छाया, प्रकाश का प्रभाव
ताबीर - किसी ख़्वाब की व्याख्या या उसकी वास्तविकता
सज़दा-ए-हक़ - सत्य के आगे समर्पण
क़ज़ा - नियति, मृत्यु
इमाँ - विश्वास, आस्था
वफ़ा - निष्ठा, समर्पण
अदा - शालीनता, सुंदरता से किया गया कार्य
सदा - पुकार, आवाज़
हिम्मत-ए-बेसबब— बिना किसी स्वार्थ के साहस
कश्तियाँ - नावें
फिल्सफ़ा - दर्शन, विचारधारा
बहा - बहाव

ग़ज़ल: 'सुकून-ए-तसव्वुर'

प्रस्तावना:

यह ग़ज़ल मोहब्बत के उस रंग को बयाँ करती है, जिसमें जुदाई भी एक तरह की रूहानी क़ुर्बत बन जाती है। यहाँ 'सुकून' कोई बाहरी शोर से दूर ठहराव नहीं, बल्कि एक भीतरी गूंज है - जो कभी यादों की नमी से, कभी ख़ामोशी की महक से, और कभी एक लम्हे के हज़ार सालों के एहसास से भर जाती है। शायर ने इसमें मोहब्बत को इबादत की ऊँचाई तक पहुँचाकर बताया है कि सच्चा इश्क़ अपनी मौजूदगी और ग़ैर-मौजूदगी दोनों में रूह को सुकून देता है।

ग़ज़ल: 'सुकून-ए-तसव्वुर'

तेरी ग़ुंचागी में भी एक सज़ा-सा सुकून है
कभी जो तू न हो फिर भी तेरा ही सुकून है

उड़ी जब ज़ुल्फ़ तेरी, कुछ रुख़ हवाओं ने लिया
नज़ारा धुंधला हो जाए — वही तो सुकून है

ये तन्हाई भी अब यूँ लगती है महकती सी
तू पास नहीं लेकिन तेरा गुमाँ सुकून है

तेरे ख़्वाब में जलता हूँ मैं हर रोज़ मगर
तेरी नींद की सदी हुई रवानगी सुकून है

न कोई दावा, न तकरार, न शिकवा कोई
तेरे बिन भी जो बचा रह गया, वो सुकून है

तेरा लहज़ा, तेरा छू जाना हवा बनकर
ल़फ्ज़ों से नहीं — ख़ामुशी से मिला सुकून है

पहलू में गुज़री जो कभी इक रात थी
उसी इक लम्हे में सदियों का जमा सुकून है
ये आँखें बंद हों, तो तेरा चेहरा जागे
तसव्वुरों की गिऱफ्त में बसा सुकून है

मैं टूटा भी तो बिखरा नहीं तन्हा होकर
तेरी यादों के सहारे में भला सुकून है

बहाने ढूँढता फिरा हूँ उदास रहने के
तेरे नाम से जो बह निकला, वही सुकून है

न सवालात, न जवाबों का कोई डर बाक़ी
तेरी चुप्पी में छुपा जो भी कहा, सुकून है

ये मीलों की दूरियाँ हैं, न कोई ख़त आता
मगर हर सांस में तू है, यही क्या सुकून है?

तुझे पाया नहीं, पर ख़ुद को खो भी न सका
ये आधा-अधूरा इश्क़ भी पूरा सुकून है

तेरी दस्तक भी नहीं, और तेरा ग़ुंचा भी नहीं
मगर दर के उस पार कोई ख़ुशबू-सा सुकून है

'शफ़क़' ये इश्क़ है या कोई इबादत सी चीज़
कि तन्हा भी हूँ और फिर भी पूरा सुकून है

ग़ज़ल: 'सुकून'

प्रस्तावना:

एक ऐसी रचना है, जो मानवीय भावनाओं की गहराई को छूती है और जीवन के सूक्ष्म पलों में छिपे शांति के अर्थ को उजागर करती है। यह ग़ज़ल सुकून की तलाश को एक काव्यात्मक यात्रा में बदल देती है, जहाँ हर शेर एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। शायर ने बड़े ही संजीदा और भावपूर्ण अंदाज़ में सुकून को प्रेम, तन्हाई, खय़ाल, और यहाँ तक कि दर्द और थकान जैसे विविध रूपों में पिरोया है।

इस ग़ज़ल में शायर ने रोज़मर्रा की ज़िंदगी के उन पलों को उकेरा है, जो साधारण लगते हैं, मगर उनमें गहरी शांति और अर्थ छिपा होता है। चाहे वो किसी प्रिय के खय़ाल में मिलने वाला सुकून हो, तन्हाई में गूंजता कोई नाम हो, या टूटे ख़्वाबों की गहराइयों में बसी सांत्वना—हर शेर एक नई परिभाषा गढ़ता है। भाषा की सहजता और भावनाओं की गहनता इस ग़ज़ल को हर दिल तक पहुँचाती है।

'सुकून' न केवल एक ग़ज़ल है, बल्कि एक दर्शन है, जो हमें सिखाता है कि ज़िंदगी की रौशनी और तीरगी के बीच, उन ठहरे हुए पलों में ही असली शांति बसती है। यह रचना हर उस पाठक के लिए एक नायाब तोहफ़ा है, जो अपनी भागदौड़ भरी ज़िंदगी में सुकून के मायने तलाश रहा है। यह ग़ज़ल दिल को छूती है और आत्मा को सुकून बख्शती है।

ग़ज़ल: 'सुकून'

किसी के नाम में ढलती हर बहार भी सुकून है
उसके ख़याल की पहली ही पुकार भी सुकून है

हवा से बोलता हर इक ग़ुबार भी सुकून है
कभी जो ख़ुद से हो जाए सवाल, वो सुकून है

उड़ान में ही गर तलाश हो कोई मुक़ाम की
तो रास्तों की थकन पर ये छाँव भी सुकून है
तन्हाइयों में गूंजता है इक सदा सा नाम
जो अब भी दिल में ज़िंदा है, वो सुकून है

नज़र से गिर के भी जो ख़्वाब आंख में रहें
वो अश्क भी, वो गहराइयाँ — सुकून है

जहाँ न हो कोई साया, न शक्ल, न सदा
मगर वहाँ सुख़न की इक याद भी सुकून है

कभी जो टूट कर ख़ुदी से भी उलझ पड़े
तो उस सुलझन में भी इक नम-सा सुकून है

वो शाम जब न रोशनी रही न रात आई
उसी के बीच ठहरी इक घड़ी सुकून है

जो ग़म भी हमसफ़र बना हो रूह की तरह
वही अज़ीज़ दर्द भी अब मेरा सुकून है

'शफ़क़' ये ज़िन्दगी न रौशनी न तीरगी
मगर जो बीच में ठहरे पल — सुकून है

सदा: पुकार
सुख़न: संवाद
ख़ुदी: आत्मा, गौरव, अहंकार
तीरगी: अँधेरा, स्याह

ग़ज़ल: 'वक़्त का दस्तूर'

प्रस्तावना:

समय की नश्वरता और जीवन की अनिश्चितताओं को बयान करती एक गहन और विचारोत्तेजक रचना है। यह ग़ज़ल वक़्त के उस रहस्यमयी स्वभाव को उजागर करती है, जो न तो किसी की प्रतीक्षा करता है, न ही किसी के लिए रुकता है। शायर ने अपनी संवेदनशील लेखनी से वक़्त के बदलते रंगों, मानवीय भावनाओं की उलझनों, और जीवन के क्षणभंगुर सत्य को इस तरह पिरोया है कि प्रत्येक शेर एक गहरी चेतना जगाता है।

ग़ज़ल में समय को एक अबूझ पहेली की तरह चित्रित किया गया है, जो राहों को धुंधला करता है, चेहरों के रंग बदलता है, और ख़्वाबों को साँसों की तरह क्षणिक बनाता है। शायर ने वक़्त के दस्तूर को समझने की कोशिश में मानव मन की बेचैनी, आशा, और निराशा को सहजता से उकेरा है। 'ख़ामोशी', 'परछाइयाँ', और 'यक़ीं' जैसे प्रतीकों के माध्यम से यह ग़ज़ल जीवन के गहरे फ़लसफ़े को स्पर्श करती है, जो पाठक को आत्ममंथन की ओर ले जाती है।

यह रचना भाषा की सादगी और भावनाओं की गहराई का सुंदर समन्वय है। यह ग़ज़ल हमें याद दिलाती है कि वक़्त का कोई भरोसा नहीं, मगर उसकी अनिश्चितता में भी जीवन की सार्थकता तलाशी जा सकती है। यह हर उस पाठक के लिए एक प्रेरणा है, जो समय के प्रवाह में अपनी जगह और मायने खोज रहा है।

ग़ज़ल: 'वक़्त का दस्तूर'

राह भी है पर मंज़िल धुंधली सी लगे,
वक़्त के पहलू में क्या पाए कोई

वक़्त का दस्तूर क्या जाने कोई
कब बदल जाए, न जाने कोई

धूप छू कर साये लौट आते हैं
रास्ता तकता है, जाने कोई

आज जो लम्हा है, कल मिट जाएगा
बात ये हर रोज़ की माने कोई

उम्र की तह में है ख़ामोशी बहुत
सुन सका हो तो बताये कोई

रंग चेहरे के, मिज़ाजों के बदलते हैं
आईना कितना दिखाए कोई

ख़्वाब ठहरते नहीं साँसों की तरह
नींद को कैसे मनाए कोई

जो भी आया, बस गुज़रता ही गया
क़ाफ़िला ठहरे — न चाहे कोई

बाग़ में मौसम कई आए गए
फूल कब तक मुस्कराए कोई

दिल में बीते वक़्त की परछाइयाँ
इनको कैसे भूल पाए कोई

तर्क की ज़िद है, यक़ीं की हार है
दिल मगर फिर भी यक़ीं लाए कोई

'शफ़क़' उस मौक़े पे चुप सा हो गया
जब वफ़ा पे हँस पड़ा "अपना " कोई

ग़ज़ल: 'नेकी और पूछ-पूछ'

प्रस्तावना:

आधुनिक समाज की कड़वी सच्चाइयों को उजागर करती एक मार्मिक और विचारोत्तेजक रचना है। यह ग़ज़ल उस दौर की तस्वीर खींचती है, जहाँ नेकी, सच्चाई, और ईमान जैसे मूल्य बाज़ार की वस्तु बन गए हैं, और इंसानियत स्वार्थ की भेंट चढ़ रही है। शायर ने अपनी संजीदा शायरी के माध्यम से समाज में बढ़ते मतलबपरस्ती, झूठ, और नैतिक पतन को उकेरा है, जो पाठक के मन को झकझोरता है।

प्रत्येक शेर में शायर ने समकालीन समाज की विडंबनाओं को बखूबी दर्शाया है—चाहे वह नेकी पर हँसी उड़ाने वाला माहौल हो, इंसाफ़ की उम्मीद में ठगे जाने का दर्द हो, या सच्चाई को तन्हाई की सजा मिलने का अफ़सोस। 'मुनाफ़िकों का दौर', 'बाज़ीचा-ए-अतफ़ाल', और 'मतलब परस्तों की बस्तियाँ' जैसे प्रतीक समाज की उस कठोर हक़ीक़त को सामने लाते हैं, जहाँ मानवीय मूल्य केवल दिखावे तक सीमित रह गए हैं।

यह ग़ज़ल भाषा की सरलता और भावनाओं की गहराई का अनूठा संगम है। यह न केवल समाज की कमियों पर तीखा प्रहार करती है, बल्कि हमें अपने भीतर की नेकी और सच्चाई को बचाए रखने की प्रेरणा भी देती है। यह रचना हर उस पाठक के लिए एक आलोचनात्मक दर्पण है, जो इस स्वार्थी दौर में भी इंसानियत और नैतिकता की तलाश में है।

ग़ज़ल: 'नेकी और पूछ-पूछ'

नेकी का ज़िक्र कीजिए, लोग हँस पड़ते हैं
इंसाँ खुदगर्ज़ हो चला, रिश्ते सिसक पड़ते हैं

मायार अब बचा नहीं, सच की न कोई क़द्र
मुनाफ़िकों के दौर में सज्दे भी झुक पड़ते हैं

हर शख़्स यहाँ दाम लगाता है नेकी का
ईमाँ की बोली लगती है, सौदे खनक पड़ते हैं

बाज़ीचा-ए-अतफ़ाल है ये दौर-ए-ज़िंदगानी
जिसमें बड़ों के खेल भी बच्चों से घट पड़ते हैं

इक वक़्त था जब नेकी ही अपना इनाम थी
अब पूछते हैं -"किसके लिए?"- तब ही बढ़ते हैं

जो मुफ़लिसों की बात करे, वो मूर्ख कहलाए
सिर्फ़ 'फ़ायदा' जानने वाले कब सच पढ़ते हैं

हर मोड़ पे इंसाँ को अब मतलब से फुर्सत नहीं
परस्तों की बस्तियाँ भी अब तो बिक पड़ते हैं

ज़ख़्मों को सिलना क्या, अब तो लोग चीरते हैं
मरहम के नाम पर भी नफ़रतें बंट पड़ते हैं

दिल में जो सच्चाई रखे, वो तन्हा रह जाए
झूठे लोग महफ़िलों के सरताज बन पड़ते हैं

इंसाफ़ की उम्मीद पे बैठा है अब भी कोई
लेकिन अदालतों में फैसले झुक पड़ते हैं

बाज़ार में अब 'नेकी' भी ब्रांड बन गई
अंदर से खोखले हैं, ऊपर से चमक पड़ते हैं

मस्जिद भी सियासत के नक़्शे में खो गई
अज़ानें भी अब वोटों पे रुक-रुक पड़ते हैं

जो भीड़ से हट कर चला, वो मिटा दिया गया
अब तो रास्ते भीड़ के मुताबिक़ छँट पड़ते हैं

‘शफ़क़’ चुप रहो, ये शहर अब दिल नहीं देखता
यहाँ तो चेहरे पढ़ के ही लोग बदल पड़ते हैं

मुनाफिक: दोहरे चरित्र वाला व्यक्ति
मायार: स्तर, गुणवत्ता, कसौटी
खुदगर्ज: स्वार्थी
बाज़ीचा-ए-अतफ़ाल: बच्चों का खेल
मुफ़लिस: ग़रीब
परस्तों: स्वार्थी लोगों, मतलब परस्तों

ग़ज़ल: 'बना रहूँ यादों में'

प्रस्तावना:

एक ऐसी काव्यात्मक रचना है, जो जीवन की नश्वरता और अमरता की चाह को एक गहरे भावनात्मक और दार्शनिक अंदाज़ में पेश करती है। यह ग़ज़ल उस इच्छा को व्यक्त करती है, जो हर इंसान के दिल में कहीं न कहीं बसती है—एक ऐसी छाप छोड़ने की, जो समय के साथ मिटे नहीं, बल्कि लोगों की यादों में हमेशा ज़िंदा रहे। शायर ने इस ग़ज़ल में इंसानियत, सच्चाई, और नेकी के ज़रिए एक ऐसी विरासत की बात की है, जो भौतिक उपलब्धियों से परे, रूहानी और भावनात्मक स्तर पर अमर रहती है।

प्रत्येक शेर में शायर ने जीवन के उन सूक्ष्म पलों को उकेरा है, जो छोटे लगते हैं, मगर अपनी सादगी और गहराई में अनमोल हैं—चाहे वह किसी के दर्द पर मरहम बनने की बात हो, बच्चों की हँसी में बस्ती ज़िंदगी हो, या टूटे दिलों को सहारा देने की कोशिश। 'हौसला', 'मुस्कुराहट', और 'ख़ामुशी' जैसे प्रतीकों के माध्यम से ग़ज़ल यह दर्शाती है कि सच्ची यादें ओहदे या शोहरत से नहीं, बल्कि इंसानियत और साहस से बनती हैं।

यह ग़ज़ल न केवल आत्ममंथन कराती है, बल्कि हमें प्रेरित करती है कि हम अपने जीवन को इस तरह जिएँ कि हमारी नेकियाँ और सच्चाई हमेशा दूसरों के दिलों में बनी रहें। यह हर उस पाठक के लिए एक प्रेरणा है, जो अपनी ज़िंदगी को सार्थक और यादगार बनाना चाहता है।

ग़ज़ल: 'बना रहूँ यादों में'

मैं जाऊँ मगर कुछ तो ऐसा हो जो याद रहे
बसे रूह में लोग के लम्हा-लम्हा याद रहे

किसी ज़ख़्म पर मेरी बातों का मरहम रहे
कभी आँसुओं में मेरा हौसला भी याद रहे

मैं ठहरा नहीं, फिर भी कुछ रंग ऐसे बहे
जो मौसम बदलते रहें पर मैं न बदला याद रहे

मेरी मुस्कुराहट कहीं दर्द से जा मिले
मगर जीने वालों को हर लफ़्ज़ मेरा याद रहे

जो सच के लिए मैं लड़ा, और जो झूठ से कहे
उसी सिलसिले में मेरा नाम सच्चा याद रहे

न ओहदा, न शोहरत, न कोई बड़े सिलसिले
मगर एक इंसान की ख़ुशबू तो धीमा याद रहे

कभी बच्चों की हँसी, कभी माँ की दुआओं में
मिरी ज़िन्दगी की कोई धड़कन ज़िंदा याद रहे

न मजार चाहिए मुझे, न कोई शोक वहाँ
बस कुछ नेकियाँ हों जो बिन नाम के भी याद रहे

जहाँ डर के साए हों, मैं बनूँ रौशनी वहाँ
किसी मोड़ पर मेरा साहस-सा चेहरा याद रहे

मैं उन तक भी पहुँचा जिन्हें सबने ठुकरा दिया
मिरी ख़ामुशी भी किसी टूटे दिल को याद रहे

कभी ख्वाब बन के किसी नींद में मुस्कुरा दूँ
जो बिसरा दिए गए, वो लम्हा-लम्हा याद रहे

जो मज़हब से पहले हो इंसानियत का सबक
मैं ऐसा कोई फलसफ़ा लिखूँ जो याद रहे

वो मंज़र न हो जिसमें मैं दिखूँ तो बस मिट्टी
मैं सोच बनूँ, मैं रवानी बनूँ, सब याद रहे

शफ़क़' तू गया भी तो कुछ इस सलीके से जा
तेरी ख़ामुशी में भी कुछ कहा जा सके, याद रहे

मिरा आख़िरी शेर हो कुछ इस अदा के साथ —
'शफ़क़' का हर इक हर्फ़ दिल से पढ़े, याद रहे

ग़ज़ल: 'माँ – हर राह की रौशनी'

प्रस्तावना:

जब रूह सफ़र पर निकलती है, तो राहें अक्सर धुंधली होती हैं। सवालों से भरी, थकानों से भरी, उलझनों से भरी। मगर हर मोड़ पर, हर गिरावट पर, एक अदृश्य हाथ होता है - थाम लेने को तैयार।
वही हाथ है माँ का। वही साया है ममता का।
यह ग़ज़ल, 'जहाँ सबने ख़त्म समझा है', उसी ममता की रौशनी में रची गई है -
यह ज़िंदगी के उन बहावों की बात करती है जहाँ हर कोई हार मान ले,
और माँ की दुआ चुपचाप कहती है: 'रुक मत, मैं तेरे साथ हूँ...'
यह ग़ज़ल सिर्फ़ शेर नहीं - वो सिसकी है जो कभी माँ ने दबाकर ली होगी,
वो ख़ामोशी है जिसमें उसने तुम्हारे लिए खुद को भुलाया होगा।

ग़ज़ल: 'माँ - हर राह की रौशनी'

'जहाँ सबने ख़त्म समझा है'

माँ की दुआ ने रोका मुझे हर बार टूटने से
वरना सफ़र तो शुरू ही था मेरी हिम्मत के खात्मे से

लहरों में डूबना भी इक रास्ता था पार का
साहिल मिला वहीं, जहाँ डर था इनकार का

बहाव में बहे तो जाना, ठहराव क्या चीज़ है
वक़्त ने पहना चोला, रूह ने नाम लिया प्यार का

माँ की हथेली जैसे हो, हर दुख पे मरहम बनी
ज़िंदगी जब भी बिखरी, उसने किरदार संभाला यार का

वो लोरी जो सुनाई नहीं, पर दिल में बजती रही
माँ की खमोशी भी अज़ान थी, मेरे इंतज़ार का

जब टूट कर सँवारा गया, तब जाना हमने
मोहब्बत ही असल मतलब था, रब के इकरार का

जो छांव है हर मौसम में, वो कोई दरख़्त नहीं
ममता है — साया है जो मिटता नहीं इज़हार का

हर साँस से आगे भी कोई ज़िंदगी है शायद
ये हिसाब क्या करे दिल, सौदा नहीं बाजार का

मंज़िलों का क्या भरोसा, रस्ते ही फ़ानी निकले
हर क़दम पे इम्तिहान था, नाम था इज़्ज़तदार का

जो 'मैं' से निकला, वही 'तू' में जा बसा आख़िर
फना भी ज़िंदा रही, ये करिश्मा था उस प्यार का

कब्र भी जब रौशन निकली, रौशनी से ज़्यादा
समझ आया हमें मतलब, सच्चे इक़रार का

ग़ज़ल: 'सुकून की तलाश'

प्रस्तावना:

सीए (डॉ.) गौतम कोठारी 'शफ़क़' की ग़ज़ल 'सुकून की तलाश' एक गहन आध्यात्मिक और दार्शनिक यात्रा है, जो मानव मन की उस अनंत खोज को व्यक्त करती है, जिसमें वह सुकून और सच्चाई की तलाश में भटकता है। यह ग़ज़ल न केवल व्यक्तिगत संघर्षों और आंतरिक उथल-पुथल को दर्शाती है, बल्कि उस शाश्वत सत्य की ओर भी इशारा करती है, जो 'मैं' की सीमाओं से परे 'तू' में समाहित है। शायर ने अपनी संवेदनशील लेखनी से सुकून की तलाश को एक ऐसी काव्यात्मक अभिव्यक्ति दी है, जो पाठक के दिल को छूती है और उसे आत्मचिंतन की ओर ले जाती है।

प्रत्येक शेर में शायर ने सुकून की अवधारणा को विभिन्न रूपों में उकेरा है—चाहे वह बाज़ारों की सतही दुनिया से परे ख़ामोशियों में छिपा दीदार हो, दिल की धड़कन में बस्ता सत्य हो, या नफ़्स के तूफ़ानों से मुक्ति का रास्ता। 'नूर', 'अशआर', और 'पारावार' जैसे प्रतीकों के माध्यम से ग़ज़ल उस आध्यात्मिक गहराई को उजागर करती है, जहाँ सुकून केवल बाहरी तलाश का विषय नहीं, बल्कि भीतर की स्वीकृति और समर्पण का परिणाम है।

यह ग़ज़ल हमें सिखाती है कि सुकून न तो किताबों में मिलता है, न बाज़ारों में, बल्कि वह उस आत्म-विसर्जन में है, जो 'मैं' को 'तू' में विलीन कर देता है। यह हर उस पाठक के लिए एक प्रेरणा है, जो अपनी तलाश में सच्चाई और शांति की राह खोज रहा है।

ग़ज़ल: 'सुकून की तलाश'

सुकून गर बाज़ारों में बिकता
तो मैं इसका पहला दुकानदार होता

हर सांस में इक शोर सा छुपा होता
ख़ामोशियों में गर दीदार होता
मेरा वजूद ख़ाक था सदियों से
तेरे नूर से जो सरशार होता

जो दिल की धड़कन में तू उतरता
न तन्हा सफ़र, न तकरार होता

हमने तलाशा तुझको किताबों में
काश दिल ही तेरा अशआर होता

नफ़्स के तूफ़ानों से थक चुका हूँ
अगर तस्लीम ही इज़हार होता

फ़ना का मंज़र ही अस्ल हयात है
जो मिट जाता, वो ही ताजदार होता

रहा जो 'मैं' से बाहर, वही बाचा
'शफ़क़'जो 'तू' में डूबा, पारावार होता

दीदार: दर्शन, झलक, मुलाक़ात,
सरशार: सराबोर, पूरी तरह भीगा हुआ
अशआर: शायरी के शेर
तस्लीम: स्वीकार करना, सलाम करना,
हयात: रूह और जिस्म की उस रहगुज़र का नाम जो जन्म से मर्ज़ तक चलती है।
बाचा: राजा, बादशाह
पारावार: संसार, सृष्टि, समुंदर

ग़ज़ल: 'मैं चलता हूँ सूरज से आँख मिलाकर'

प्रस्तावना:

एक प्रेरक और जज़्बाती रचना है, जो जीवन की चुनौतियों के सामने हौसले, बग़ावत और सच्चाई के साथ डटकर मुकाबला करने की भावना को उजागर करती है। यह ग़ज़ल उस अटल इरादे और आत्मविश्वास की कहानी कहती है, जो मुश्किलों की ठोकरों से सीख लेता है और सूरज की तरह तेजस्वी होकर आगे बढ़ता है। शायर ने अपनी बेबाक लेखनी से इंसान की उस रूहानी ताकत को उकेरा है, जो न केवल विपरीत परिस्थितियों में हार नहीं मानती, बल्कि मुस्कुराते हुए उनसे आँख मिलाती है।

प्रत्येक शेर में शायर ने जीवन के विभिन्न रंगों को समेटा है—चाहे वह आँधियों से बग़ावत हो, तन्हाई में बस्ता अफ़साना हो, या सियासत और तहज़ीब के बीच का संघर्ष। 'हौसला', 'क़लम', और 'मुस्कान' जैसे प्रतीकों के माध्यम से ग़ज़ल यह दर्शाती है कि असली ताकत बाहरी उपलब्धियों में नहीं, बल्कि भीतर की आग और बेबाक सोच में निहित है। शफ़क़ की यह रचना उन लोगों के लिए एक प्रेरणा है, जो अपने ख़्वाबों को सच करने के लिए अंधेरों से टकराने को तैयार हैं।

यह न केवल एक काव्यात्मक अभिव्यक्ति है, बल्कि एक ऐसा आह्वान भी है, जो हर पाठक को अपने भीतर की रौशनी को जगाने और सूरज से आँख मिलाकर चलने का हौसला देता है।

ग़ज़ल: 'मैं चलता हूँ सूरज से आँख मिलाकर'

ज़माने की ठोकरों से सीखा है सीना तान चलना
फ़ितरत है, चलता हूँ सूरज से आँख मिलाकर

तेज आँधियों से भी अक्सर बग़ावत की मैंने
है हौसला भी शरारत मेरे पाँवों में होती है

नसीबों के नक़्शे कुछ यूँ ही नहीं बदलते गए हैं
क़लम जो मेरी उंगलियों में, वही ताक़त होती है

ख़ुदा से कभी गिला न था मुझे, की दुआ औरों के लिए
जो तन्हाई में दिल पे बीती अब एक अफ़साना होती है

जले जिस्म में रूह के ठहरने का ठिकाना नहीं होता
रूह की धधकती ये आग अब हमसफ़र होती है

सरे तक़रीब सियासत से उलझा हूँ तहज़ीब को लेकर
बेबाक हूँ , मेरी सोच ज़ंजीरों से ऊँची होती है

मुश्किल राहों में काँटों की ज़द में भी हँसता रहा हूँ
मुश्किल घड़ियों में मिरी मुस्कान भी कुछ कहती होती है

जो सूरज से आँखें मिलाने चला , हँसता था जमाना
ख़्वाब थे उनके, अब अंधेरों की हसरतें भी रोती हैं

शफ़क़' अब ये आलम है, कलम गर खामोश भी हो
तो वीरानों में भी अशआरों की गूँज होती है

फ़ितरत: स्वभाव, प्रकृति, मिज़ाज
तक़रीब: समारोह, आयोजन
सियासत: हुकूमत से जुड़ी रणनीति
तहज़ीब: सभ्यता, संस्कृति
बेबाक: निर्भीक, स्पष्टवादी
हसरतें: इच्छाएँ

ग़ज़लः 'ज़िंदगी, एक रुहानी सफ़र'

प्रस्तावनाः

ज़िंदगी को अक्सर हम एक सफ़र मानते हैं, पर जब यह सफ़र रूह से होकर गुज़रता है - तो हर मोड़, हर ठोकर, हर ख़ामोशी एक इबादत बन जाती है। यह ग़ज़ल 'ज़िंदगी, एक रूहानी सफ़र' केवल अशआरों की एक श्रृंखला नहीं है, बल्कि आत्मा की उन थरथराती परतों की कहानी है, जो तजुर्बे, तकलीफ़, तन्हाई और ताजुर्बात से निखरी हैं।
हर शेर एक ऐसा दरवाज़ा खोलता है जहाँ पाठक अपने ही ज़ख़्मों को पहचानता है, और फिर उन्हीं ज़ख़्मों में उजाले पाता है। कभी यह उजाला रब की रहमत बन कर आता है, तो कभी एक ख़ामोश तसल्ली बनकर। कवि ने बेहद संजीदगी से उन भावों को शब्द दिए हैं जो अक्सर कहे नहीं जाते - बस महसूस होते हैं।
यह ग़ज़ल हार के बाद की उम्मीद है, बुझी रूह का जलता चिराग़ है, इल्ज़ामों की भीड़ में आत्मस्वीकृति की मौन स्वीकृति है। इसमें एक साधक की तरह 'शफ़क़' खुद से गुजरते हैं और हर दुख से एक दुआ निकाल लाते हैं।
'ज़िंदगी, एक रूहानी सफ़र' एक दास्तान है - उन सभी के लिए जो थक चुके हैं, टूट चुके हैं, पर फिर भी अपने अंदर के उजालों से रोशनी माँगने का हौसला रखते हैं। यह ग़ज़ल, शब्दों के भीतर वह नर्म रोशनी रखती है जो ज़िंदगी को जिया हुआ बनाती है - सच्चा, सुंदर और आत्मिक।

ग़ज़लः 'ज़िंदगी, एक रूहानी सफ़र'

जो गिर के उठे तो कुछ और ही हवाले मिले
हमने ज़हर पिया तो भीतर से उजाले मिले

न था कोई वास्ता बस दुआओं के सिलसिले
रब ही ख़ुद पास आया और ऐसे सहारे मिले

जहाँ पे हार कर बैठा था मैं थक के कभी
उसी जगह से उम्मीदों के उजाले मिले

बुझी हुई थी रूह, लरज़ते थे आईने
जो टूटने लगे, उसी सांचे में ढाले मिले

गुनाह अपने थे, मगर इल्ज़ाम दौर पर था
सुकूत में भी कई अनकहे हवाले मिले

न पूछा किसी ने , न समझा कोई मेरा सफ़र
मगर तन्हाइयों से गहरे रिसाले मिले

ये कैसा फ़ैज़ है, जो खामोशी से बरसा है
सदा-ए-दिल से दरियाओं को सँभाले मिले

हर एक ज़ख़्म से खुलता गया इक दर कोई
वजूद बाँटा गया, और कायनात कमाले मिले

हमारे अश्क, हमारे ही सजदे बनते गए
गुज़र के दर्द से, रहमतों के निवाले मिले

'शफ़क़' अब न तसव्वुर है, न तलब, न ही कोई मंज़िल बाकी
हमने रौशनी माँग ली है, जब अंदर से उजाले मिले

हवाले: संकेत, इशारे, संदर्भ
ज़हर: विष, यहाँ प्रतीकात्मक -दर्द, तकलीफ़ या आत्मसंघर्ष
सुकूत: ख़ामोशी, गहरा सन्नाटा
रिसाले: संदेश, आत्मिक अनुभव या सूक्ष्म ज्ञान
फ़ैज़: रहमत, कृपा
सदा -ए-दिल: दिल की सच्ची पुकार
दरिया: यहाँ प्रतीक है जीवन या भावनाओं की गहराई का
वजूद: अस्तित्व, स्वयं की पहचान
कायनात: सम्पूर्ण ब्रह्मांड, सृष्टि
कमाले: उत्कृष्टता, या अद्भुत कार्य
निवाले: रोटी का कौर, यहाँ रहमत या दया के रूप में
तसव्वुर: कल्पना, किसी चीज़ की गहराई से सोच
तलब: चाहत, इच्छा

ग़ज़ल: 'एक घर की गूँज'

प्रस्तावना:

कभी-कभी घर पूरी तरह से बसा होता है - चार दीवारें, छत, रोटियाँ, दिनचर्या और जिम्मेदारियाँ - मगर फिर भी कुछ रह जाता है... कुछ जो बहुत गहरे टूट चुका होता है। रिश्तों के बीच एक ऐसा सन्नाटा पलता है जिसे कोई महसूस नहीं करता, बस झेलता है। यह रचना 'एक घर की गूँज' उसी अनकहे, अनसुने दर्द की आवाज़ है - जो एक ही छत के नीचे रहते तीन किरदारों की आत्मा से निकलती है।

यह केवल एक कविता नहीं है, यह एक प्रतिध्वनि है - उस खामोशी की, जो एक पुरुष के भीतर की घुटन, एक स्त्री के निस्तेज त्याग और एक बच्चे की मौन पीड़ा में गूंजती है। यह रचना बताती है कि कैसे रोटियों की गिनती तो हुई, पर जज़्बात अनदेखे रह गए; कैसे काम को तवज्जो मिली, मगर एहसासों को कोई नाम नहीं मिला; और कैसे थाली में सब कुछ होते हुए भी, माँ की मुस्कान गुम रही।

शायर ने बड़ी सहजता और गहराई से इन तीन दृष्टिकोणों को बुना है - बिना किसी आरोप के, बिना कोई फ़ैसला सुनाए - बस इतना कह कर कि अगर हम सुनना सीख जाएँ, तो शायद ये सन्नाटे पुकार बन जाएँ।

यह कविता घर को सिर्फ़ एक ईंटों का ढाँचा नहीं मानती - यह पूछती है कि घर वाक़ई घर कब बनता है? और कब वह सिर्फ़ एक स्थायी पता भर रह जाता है?

ग़ज़ल: 'एक घर की गूँज'

तीन किरदार, एक घर, तीन सन्नाटे…

"जिस घर में रोटियाँ थीं, मगर बात नहीं थी - वहाँ हर किरदार बस निभा रहा था, जी नहीं रहा था।"

"गिनी गईं रोटियाँ, जज़्बात नहीं"

(एक पुरुष की नज़र से)

कमा के लाता रहा वो हर शाम अपना वजूद,
मगर घर में सिर्फ़ रोटियाँ गिनी गईं, जज़्बात नहीं

बयाँ हुआ न कभी दर्द उसके लफ़्ज़ों से
सुना बहुत कुछ गया, पर सुनी गईं बात नहीं

“सुनी गईं ज़िम्मेदारियाँ, एहसास नहीं”

(एक स्त्री की नज़र से)

हर रोज़ ढलती रही वो ख़्वाब ओ ताबीर में
मगर देखा गया काम ही, जज़्बात नहीं

वो थाली में परोसती रही चुप्पियाँ भी
मगर गिने गए दाल-चावल, जज़्बात नहीं

मिला तो सब कुछ, मगर माँ की मुस्कान नहीं”

(एक बच्चे की नज़र से)

थाली में था सब कुछ, रोटियाँ थीं, घी भी था
पर माँ के चेहरे पे दिखी वो जान नहीं

सवालों के बदले मिली बस थकन की दीवार
कहाँ गया वो लम्हा जहाँ होता था इंकार नहीं

‘शफ़क़’: एक घर की गूँज

घर तो था, पर “घर” जैसा न रहा
दीवारें थीं, पर बातों की छाँव न थी
तीनों जिए - मगर अपने-अपने सन्नाटों में
‘शफ़क़’ कहता है
अगर हम सुनना सीख जाएँ -
तो हर चुप्पी एक पुकार बन सकती है

ग़ज़ल: 'मैं एक दुरुश्त खयाल हूँ'

प्रस्तावना:

इस ग़ज़ल के अस्ल ग़ज़लकार मुज़्तर ख़ैराबादी जाँ निसार अख़्तर के पिता और जावेद अख़्तर के दादा थे

अस्ल ग़ज़लकार की शायरी में जो दर्द, फ़लसफ़ा और तन्हाई की गूंज थी, उसे युगीन सन्दर्भ में सकारात्मक स्वर देना एक प्रयोग है - वहीं शायर इस एहसास को मोड़ कर एक ऐसी रोशनी में पेश करते हैं, जहाँ वजूद का निखार, ज़िंदगी में असर, और रूह की रवानी झलकती है।

यह रचना आत्मविश्वास की एक जिंदा मिसाल है।

मैं किसी की आँख का नूर हूँ...' मैं किसी के दिल का क़रार हूँ' - यह पंक्तियाँ न केवल स्वीकृति की मांग करती हैं, बल्कि स्वयं की पहचान का ऐलान भी करती हैं।

शेर-दर-शेर, शायर एक ऐसे किरदार को गढ़ते हैं जो दर्द का मरहम भी है, और मुस्कान की वजह भी।

वह चमन को बहार देता है, और मिट्टी को फूलों की याद।

वह सिंगार भी है, और सजावट की मूल आत्मा भी।

यह ग़ज़ल सिर्फ़ एक आत्मकथ्य नहीं, बल्कि रूह की उजास है।

यह बताती है कि इंसान सिर्फ़ ज़ख़्मों का पुलिंदा नहीं होता - वह मरहम भी है, नग़्मा भी है, सिंगार भी है, और वजूद की पुकार भी।

शायर ने एक शायराना विरासत को आदरपूर्वक स्पर्श करते हुए उसे आशावाद, रूहानियत और आत्म-स्वीकृति से सराबोर कर दिया है।

यह रचना हमें यह याद दिलाती है -

कि हम सब किसी न किसी की दुआ, किसी की मुस्कान, और किसी के राहत बन सकते हैं- अगर हम अपने अंदर के उजालों को पहचान सकें।

ग़ज़ल: 'मैं एक दुरुश्त खयाल हूँ'

मैं किसी की आँख का नूर हूँ,
और किसी के दिल का क़रार हूँ,
किसी के काम जो आ सके,
मैं वो एक दुरुश्त ख़याल हूँ।

दवा-ए-दर्द-ए-जिगर हूँ मैं,

माँकिसी की मीठी नज़र हूँ मैं,
इधर हूँ मैं, उधर भी हूँ मैं,
मैं शकेब हूँ, मैं क़रार हूँ।

मिरा वक़्त मुझ से पिछड़ गया,
मिरा रंग-रूप निखार गया,
जो फ़िज़ाँ से चमन निखर गया,
मैं उसी की फ़स्ल-ए-बहार हूँ।

पए फ़ातिहा कोई आयेगा,
कोई चार फूल चढ़ायेगा
कोई आ के शमा जलाएगा ,
मैं वो खुसूसी का मज़ार हूँ।

मैं लाग हूँ, मैं लगाव हूँ,
सुहाग हूँ, मैं सुभाव हूँ,
जो बन गया वो बनाव हूँ,
जो सज रहा वो सिंगार हूँ।

मैं ही हूँ नग़मा-ए-जाँ-फ़ज़ा,
मुझे सुन के कोई मुस्कुरायेगा
मैं बड़े विरुज की हूँ सदा,
मैं हर ख़ुशी की पुकार हूँ।

मैं 'मुज़्तर' उन का हबीब हूँ,
मैं 'मुज़्तर' उन का रक़ीब हूँ,
जो बन गया वो नसीब हूँ,
जो खिला गया वो बयार हूँ।

प्रस्तुति एवम परिवर्तन
डॉ. (सीए) गौतम कोठारी।

ग़ज़ल: 'बग़ावत भी दुआ है'

प्रस्तावना:

कभी-कभी कुछ ग़ज़लें सिर्फ़ कविता नहीं होतीं - वे एक मौक़ा होती हैं ज़मीर से बात करने का, और एक अईना होती हैं उस सच का, जो अक्सर भीड़ में दबा दिया जाता है। यह ग़ज़ल 'बग़ावत भी दुआ है' उसी सच की एक बग़ावती दुआ है - जो सिर झुकाने से पहले सवाल पूछती है, और रूह को आवाज़ देती है।

इस ग़ज़ल में शायर ने बग़ावत को नकारात्मक सोच के दायरे से बाहर निकालकर एक रूहानी कर्म की तरह प्रस्तुत किया है - जहाँ सच्चाई, आत्मसम्मान और हक़ की पुकार ही असली इबादत बन जाती है। यहाँ 'बग़ावत' हथियार नहीं, बल्कि सजदे से ऊँची सच की जबान है।

हर शेर एक समाज की परत खोलता है- जहाँ सच बेचा जाता है, ईमान नापा जाता है, और इबादतों में मोल-भाव होने लगा है। और फिर भी, यह रचना मायूसी नहीं, बल्कि जागृति की लौ जलाती है। 'शफ़क़' उन लोगों की तरफ़ से बोलते हैं जो झुके नहीं - और न ही बिके।

'हमने सीने पे लिख दिया - बग़ावत भी दुआ है'

- यह एक घोषणा है उन आत्माओं की, जो अपने अंत: करण की आवाज़ को सियासी सौदों से ऊँचा मानते हैं।

यह ग़ज़ल एक बेबाक रचना है - जिसमें न सिर्फ़ समाज की गिरहें खोली गई हैं, बल्कि रूह की परछाइयाँ भी रोशनी में लाकर रख दी गई हैं। इसमें सियासत का मुखौटा है, मज़हब की सौदेबाज़ी है, और सबसे ऊपर है - इंसान की खुद्दारी।

शायर की यह पेशकश आज के दौर में एक ज़रूरी दस्तावेज़ है - क्योंकि कभी-कभी बग़ावत करना, दरअसल सबसे बड़ी दुआ होती है।

यह ग़ज़ल उन सभी के लिए है जो ज़िंदगी की ठोकरों से डरते नहीं, बल्कि उन्हीं से उड़ान लेना सीखते हैं।

जो गिरकर भी कहते हैं - 'अब दर्द में जीना ही शजर तय होगा'।

'हौसले की ज़बान' पढ़ना, अपने अंदर की रौशनी से मिलने जैसा है - और शायर इस मुलाक़ात के रहनुमा बनते हैं।

ग़ज़ल: 'बग़ावत भी दुआ है'

हमने सच को तमन्ना की तरह ही बस जिया है
झूठ के हर लिबासों से सलीक़ा भर लिया है

रब की रहमत को समझो गर, तो खुद्दारी बचा लो
नवाज़िश की तिजारत में बहुत कुछ बिक गया है

सच के क़द्रदानों से ही रौशन रहा है ज़माना
हर बग़ावत ही दरअस्ल इक इल्हाम बना है

ख़ौफ़ से पूछो इस सर को न झुकाने की वजह
हमने सिर आगे किया , जब भी झुकाना पड़ा है

दीन को जब भी देखा बिक रहा था बाज़ारों में
क्या अब इबादत बन गई सियासत की सज़ा है

ख़ून से सींच कर हक़ की ज़मीं ज़िंदा रखी है
रूह अब भी मुहाफ़िज़ है, यह दावा कर लिया है

तेरे सज्दे में बिक जाए हमारा ईमाँ कैसे
इसे इबादत न कहो ये सौदा-गरा की सदा है

'शफ़क़' जो झुक के जीते थे, उन्हें किसने ही जाना
हमने सीने पे लिख दिया — बग़ावत भी दुआ है

नवाज़िश: कृपा, अनुकम्पा,
तिजारत: व्यापार, सौदा
क़द्रदान: सराहने वाला
सिला: प्रतिफल, परिणाम
ख़ौफ़: डर, भय
इल्हाम: प्रेरणा या खुलासा
सजदे: प्रणाम, इबादत में सिर झुकाना
मुहाफ़िज़: रक्षक
सियासत: राजनैतिक चालबाज़ियाँ
ज़मीन-ए-हक़ीक़त: यथार्थ का धरातल
गवाही: साक्ष्य, प्रमाण
सौदा-गरा: सौदेबाज़

सदाः पुकार
बग़ावतः विद्रोह, अन्याय के ख़िलाफ़ खड़ा होना
इनायतः अनुग्रह, विशेष कृपा

ग़ज़ल: ‘ हौसले की ज़बान’

प्रस्तावना:

हर दौर में एक आवाज़ ऐसी होती है जो डर से टकराती है, अंधेरों में भी उम्मीद की लौ बनती है, और दर्द के सीने पर भी मुस्कुराहट उगाती है। यह ग़ज़ल ‘हौसले की ज़बान’ ऐसी ही आवाज़ है - एक बुलंदी की पुकार, जो न टूटती है, न झुकती है।
यह ग़ज़ल सिर्फ़ शब्दों की बुनावट नहीं, बल्कि जज़्बे का एक साक्षात चित्र है। यहाँ नायक वह है जो राह में चाँद के निकलने का इंतज़ार नहीं करता - बल्कि अंधेरों से दोस्ती करके रास्ता बना लेता है। यह वही मुसाफ़िर है जो हादसों से घबराता नहीं, बल्कि उन्हें अपनी पहचान बना लेता है।
हर शेर हौसले की एक नई शक्ल है -
कहीं वो जलजलों के शहर में मकाँ खड़ा करता है,
कहीं दर्द को असर में बदलता है,
तो कहीं तूफान के बीच दिया जलाए रखने की सीख देता है।
यह ग़ज़ल बताती है कि हौसला सिर्फ़ जज़्बा नहीं - वह एक ज़बान है। एक ऐसी ज़बान, जो न बोलकर भी बहुत कुछ कह जाती है। और जब माँ की दी हुई तालीम जुड़ती है - कि ‘नज़र तय होगा’ - तब यह हौसला केवल निजी नहीं रहता, बल्कि सामूहिक प्रेरणा बन जाता है।

ग़ज़ल: ‘ हौसले की ज़बान’

चल पड़े हैं तो अंधेरों से भी रिश्ता रखेंगे
ये नहीं कि चाँद निकले तो सफ़र तय होगा

हादसों की गर्द भी पहचान बन सकती है
हम न हारेंगे अगर अपना हुनर तय होगा

जलजलों के शहर में फिर भी मकाँ रखेंगे
दिल में विश्वास हो, तो क्यों डर तय होगा

ज़ख़्म दे जाए ज़माना तो भी हम मुस्काएँ
दर्द के साथ ही शायद ये असर तय होगा

आग ओ बारिश में भी उम्मीद उगाते रहना
ख़ुश्क मिट्टी से कभी गुल भी निखर तय होगा

तूफ़ाँ आए तो आने दे, दिया मत बुझने देना
इसी रोशन रौशनी से ही सहर तय होगा

झुक न जाना, न ही पत्थर से टकरा कर टूटना
धड़कनों में जो यक़ीं है, वही मकाँ तय होगा

धड़कनों की जुबां को भी सुन, ये ख़ामोश नहीं
रास्तों के हर मोड़ पर कोई निशाँ तय होगा

मंज़िलें भी वही हैं जहाँ सब्र की रोशनी हो,
जो अंधेरों से गुज़रा है, उसी का आसमाँ तय होगा

दूरियों से न डर, काफ़िले भी थक कर रुकते हैं
तेरे हौसले से ही तेरा कारवाँ तय होगा

हमने सीखा है उसी दिन से लड़ना मुस्कुरा के
जब सिखाया था हमें माँ ने — 'नज़र तय होगा'

जो गिरा है, वही उड़ने का हुनर जान गया
'शफ़क़' अब दर्द में जीना ही शजर तय होगा

गर्द: धूल, प्रतीकात्मक रूप से तकलीफ़ें या बदनामी
हुनर: कला
जलजला: भूकंप;प्रतीकात्मक रूप से जीवन की उथल पुथल
ख़ुश्क मिट्टी ; सूखी ज़मीन; प्रतीकात्मक रूप से कठोर परिस्थितियाँ
गुल: फूल; यहाँ आशा या सफलता का प्रतीक
सहर: सुबह; उजाला, नई शुरुआत का प्रतीक
धड़कन: हृदय की गति; प्रतीक आत्मा और जीवन की निरंतरता का
नज़र तय होना: नज़रिया, दृष्टिकोण या मंज़िल की स्पष्टता तय होना
शजर: वृक्ष; प्रतीकात्मक रूप से परिपक्वता या जीवन दर्शन

ग़ज़ल: ‘ मैं गुनहगार हूँ ‘

प्रस्तावना:

इस ग़ज़ल की पंक्तियों में जो इश्क़ बयान हो रहा है, वह महज़ सांसारिक इश्क़ नहीं - बल्कि वह रूहानी इश्क़ है जिसमें आशिक़ और माशूक़ के बीच का फासला, बंदे और मालिक के बीच का रिश्ते जैसा गूंजता है।

‘मैं गुनहगार हूँ पर कोई गुनाह किया ही नहीं’

वह गुनाह दरअसल इश्क़ है - इश्क़ जिसमें उसने सब कुछ खो दिया लेकिन बदले में कुछ माँगा नहीं। सूफियों के लिए भी इश्क़ ही सबसे बड़ा इम्तहान है - एक आग का दरिया जिसमें तैर कर पार जाना होता है।

‘तेरी रुस्वाई की ख़ातिर भी गवाही दिया ही नहीं’

यहाँ आशिक़ दुनिया के इल्ज़ामों को सहता है, लेकिन अपने माशूक़ की बदनामी नहीं चाहता। यही सूफियाना सब्र है।

‘दिल ने तुझको भी ख़ुदा की तरह चाहा था मगर’

यहाँ इश्क़ की पराकाष्ठा है - जब माशूक़ की मोहब्बत इबादत बन जाती है।

‘तुझसे शिकवा भी कभी अपनी इनायत किया ही नहीं’

यहाँ बंदा (या आशिक़) हर तकलीफ़ को भी रज़ा समझता है। शिकवा की जगह शुक्र है। शिकवा की जगह सुकून।

‘रोज़ रोशन तेरे दर से ही हुई थी ये सहर’

यहाँ इश्क़ को रौशनी बताया गया है। मालिक की याद ही रोशनी है, उसके दर से ही हर सहर की शुरुआत होती है।

‘अब तलक नाम तेरा लब पे सजाया है ‘शफ़क़’’

आख़िरत तक आशिक़ उसी का नाम जपता है - यह वफ़ा की आख़िरी मंज़िल है, जहाँ दुनिया के हर मोह से ऊपर सिर्फ़ माशूक़ का नाम रह जाता है।

निचोड़

सूफियाना इश्क़ में आशिक़ का सबसे बड़ा गुनाह यही है कि वह बेकसी से टूट कर भी मालिक (या माशूक़) से वफ़ा करता है।

इस ग़ज़ल में शायर की आवाज़ उसी इश्क़-ए-हक़ीकी की परछाईं है।

ग़ज़ल: ‘ मैं गुनहगार हूँ ‘

मैं गुनहगार हूँ पर कोई गुनाह किया ही नहीं
फैसले तेरे थे बस मैंने तो चाह किया ही नहीं

तेरी महफ़िल से उठाया था मुझे तूने मगर
तेरी रुस्वाई की ख़ातिर भी गवाही दिया ही नहीं

दिल ने तुझको भी ख़ुदा की तरह चाहा था मगर
इब्तिला में भी कभी तुझसे सिफ़ारिश किया ही नहीं

तेरे हर ज़ुल्म को किस्मत की तरह सहता रहा
तुझसे शिकवा भी कभी अपनी इनायत किया ही नहीं

रोज़ रोशन तेरे दर से ही हुई थी ये सहर
तेरे दर को मगर हमने सियाही किया ही नहीं

अब तलक नाम तेरा लब पे सजाया है 'शफ़क़'
वरना इस दिल ने किसी और से राह किया ही नहीं

महफ़िल: सभा, बैठक
रुस्वाई: बदनामी, अपमान
इब्तिला: परीक्षा, कठिन समय
शिकवा: शिकायत
इनायत: कृपा, मेहरबानी
दर: चौखट, द्वार
सियाही: अंधकार, काला रंग

ग़ज़ल: 'कोशिशों के आगे मुक़द्दर झुकता है'

प्रस्तावना:

जब ज़िंदगी बार-बार इम्तिहान लेती है, जब हालात साथ नहीं देते, और जब हर रास्ता धुंध से ढका हो - तब इंसान या तो ठहर जाता है... या फिर वह कोशिश करता है। और यही कोशिश, जब यक़ीन और हिम्मत का साथ पाती है - तो मुक़द्दर भी सिर झुका देता है।

यह ग़ज़ल 'कोशिशों के आगे मुक़द्दर झुकता है' आत्मविश्वास, सब्र और संघर्ष की एक गूढ़, मगर बेहद प्रेरणादायक दास्तान है। यह रचना उन मुसाफ़िरों की आवाज़ है जो जानते हैं कि मंज़िलें आसमान से नहीं गिरतीं, उन्हें अपनी जिद, अपने हौंसले, और अपने यक़ीन से गढ़ना पड़ता है।

ग़ज़ल के हर शेर में एक नया रास्ता है -
जहाँ सच्चाई का चुनाव है,
धूप में छाँव तलाशने का हौसला है,
गिरावटों में छुपी सीढ़ियाँ हैं,
और आँधियों से टकराने का जुनून है।

शायर नसीहत नहीं देते - वो साथ चलते हैं।

वो कहते हैं - ठोकर को सबक़ बना, दर्द को रोशनी कर, और गिरने को भी ताक़त मान।

वो इस ग़ज़ल में ज़ख़्मों को इबादत, आँसुओं को मुस्कान, और हार को हुनर बना देते हैं।

यह ग़ज़ल न केवल दिल को छूती है, बल्कि उसे थामकर उठाती भी है। यह याद दिलाती है कि कोशिशें कभी खाली नहीं जातीं - बस सलीका होना चाहिए चलने का, और यक़ीन होना चाहिए मंज़िल का।

'कोशिशों के आगे मुक़द्दर झुकता है' एक प्रेरक मंत्र है - और शायर की क़लम से निकला यह मंत्र हर उस दिल के लिए है जो टूटा है, पर हारना नहीं जानता।

ग़ज़ल: 'कोशिशों के आगे मुक़द्दर झुकता है'

चल पड़ यूँ ही सच्चाई के हर रस्ते को चुन
फिर दुआ भी कर, कोशिश भी कर, हौंसला भी चुन

धूप के सफ़र में छाँव ढूँढना आसान कब था
प्यास के समंदर में खुद अपनी राह भी चुन

ठोकरें जो लगती हैं, सबक़ बनती हैं अक्सर
हर गिरावट के नीचे इक सीढ़ी और चुन

दर्द की हवा में भी उम्मीद का दीपक जला
गिरते आँसुओं में भी इक मुस्कान भी चुन

तू अगर यकीं से भरे, हार भी हार न होगी
बस भरोसा रख, खुदा की रहमत भी चुन

बदगुमाँ ना हो कभी तू अपने हालातों से
तू जो चाहे, वक़्त तुझसे वो मुक़ाम भी चुन

जो ठहर गए वहीं पे, रह गए बस भीड़ में
जो चले हैं आगे बढ़ कर, वो रास्ता भी चुन

गिरते पत्थरों से ही तो चट्टान बनती है यहाँ
गिर कर भी हर दफ़ा खुद को सँभालने को चुन

आँधियाँ कब रोकती हैं साहिलों के हौंसले,
तू भी लहरों से टकरा बस अपनी कश्ती चुन

हार को भी जीत कर कैसे जिया जाता है देख,
ज़ख़्म को भी मरहमों से इक इबादत सा चुन

हर सितारे से भी आगे मंज़िलें हैं इस जहाँ में,
बस नज़र को ऊँच रख, अपनी बुलंदियाँ चुन

'शफ़क़' ये ज़िन्दगी तुझसे सलीका माँगती है
इम्तिहाँ भी दे, उम्मीद भी रख, भरोसा भी चुन

मुक़ाम: लक्ष्य, स्थान, मंज़िल
समंदर: समुद्र (यहाँ जीवन के संघर्ष का प्रतीक)
गिरावट: विफलता, असफलता
सीढ़ी: यहाँ अवसर या नया रास्ता

बदगुमाँ: निराश, हताश, शंका करने वाला
कश्ती: नाव (यहाँ जीवन की यात्रा का प्रतीक)
बुलंदियाँ: ऊँचाइयाँ, सफलता की ऊँचाई
सलीका: तरीका, ढंग, शालीनता

ग़ज़ल: 'ये ख़ामोशियाँ'

प्रस्तावना:

कुछ ग़ज़लें सवाल नहीं पूछतीं - वक़्त को कटघरे में खड़ा कर देती हैं।
'ये ख़ामोशियाँ', ऐसी ही एक बुलंद और बेबाक ग़ज़ल है - जो समाज की उन परतों को उधेड़ती है जहाँ मौन एक संवेदना नहीं, बल्कि एक साज़िश बन चुका है। यह रचना नारी के दुख, न्याय की असमानता, और पितृसत्तात्मक सोच पर एक तल्ख़ और साहसी हस्तक्षेप है। शायर यहाँ किसी भूमिका में नहीं - न वादी हैं, न प्रतिवादी - वो बस एक जागती हुई रूह हैं, जो कहती है:
मर्द की ख़ामोशी को मज़बूती मत समझो,
ये साज़िश भी हो सकती है, और सियासत भी।'

ग़ज़ल की हर पंक्ति एक प्रतिरोध है -
दहेज में जली बेटियाँ हों या
बलात्कार की शिकार मासूम बच्चियाँ -
शायर ने इन विषयों को शालीनता से नहीं,
बल्कि सच की आग से लिखा है।
उनकी कलम यह कहती है कि
इंसाफ़ चरित्र-परीक्षण नहीं माँगता,
न ही आँचल को श्रद्धा की चीज़ मानने वाला हर पुरुष फ़रिश्ता होता है।
यह ग़ज़ल हमें आईना दिखाती है -
कि जब हम अन्याय पर चुप रहते हैं,
तो हम केवल दोषी नहीं होते- हम साझेदार हो जाते हैं।
'ये ख़ामोशियाँ' सिर्फ़ एक कविता नहीं,
ये एक आह्वान है -
हर उस इंसान के लिए जो न्याय चाहता है,
हर उस दिल के लिए जो अब भी धड़कता है इंसानियत के लिए।

ग़ज़ल: 'ये ख़ामोशियाँ'

हमें गुनगुनाहों पे शर्मिन्दगी की भी आदत नहीं है
मगर आँसुओं की ये औरतों की ही इबारत नहीं है

अगर मर्द चुप है तो ये भी समझ लो हिफ़ाज़त नहीं है
ये ख़ामोशियाँ सिर्फ़ इक साजिशें हैं, सियासत नहीं है

सितमगर की हैवानियत पर सब ख़ामोश बैठे हैं,
कह - क्या इन ख़ामोशियों में कोई ताक़त नहीं है?

दहेजों में जलती हैं बेटियाँ आज भी हर नगर में
मगर मर्द की जात पर अब तक कोई भी लानत नहीं है

वो मासूम बच्ची जो कल रात टूटी थी चीख़ों के अंदर
कहाँ है वो दिल, जिसमें कुछ भी ज़रा सी भी रहमत नहीं है

अगर जुर्म औरत का है तो उसको भी सज़ा दो जनाब
मगर इंसाफ़ में चरित्र की ये तफ़्तीश ज़रूरत नहीं है

वो जो आँचलों को सदा रहमतों की ही मूरत समझते
उन्हें जान लेना पड़ेगा कि वो सब फ़रिश्ते नहीं हैं

'शफ़क़' कह रहा है यही बार-बार इस जहाँ से
जुर्म कोई भी हो, उस पे मौलत या राहत नहीं है

मौलत: अश्रु, आँसू,
सितमगर: अत्याचारी, जालिम
रहमत: दया, करुणा

ग़ज़ल: ‘तिश्नगी की तह में’

प्रस्तावना:

इंसानी रूह की गहराइयों में सबसे पुराना हमसफ़र है - तिश्नगी।
यह केवल प्यास नहीं, बल्कि तलाश है - मुकम्मल होने की, समर्पण की, रौशनी की।
कभी यह तिश्नगी हमें किनारों का भ्रम देती है, तो कभी खुद अपनी गहराइयों में डुबो देती है।
मगर वही तिश्नगी जब इश्क़ की लौ से जल उठती है तो रूह को ऐसा सफ़र बख़्शती है जहाँ डूबना भी इबादत बन जाता है।
“तिश्नगी की तह में” - एक ऐसा ही सफ़र है।
यह ग़ज़ल दरिया, आँसू, कश्तियाँ, दर्द और उम्मीद के बहते हुए इशारों से गुज़रती है।
हर शेर में डूबने का डर नहीं, बल्कि डूब कर रौशनी पाने की चाह है।
यह ग़ज़ल केवल इश्क़ के बयान तक सीमित नहीं, बल्कि हर उस रूह की आवाज़ है जो तिश्नगी में भी शौक़-ए-सहर लिए जीती है।
डूब कर भी जो “चराग़” बन जाए - वही इश्क़ का असल कमाल है।
‘शफ़क़’ की यह पेशकश उसी रूहानी आग से उठी लौ है,
जो हर पाठक के भीतर की तिश्नगी को छूने का प्रयास करेगी।

ग़ज़ल: तिश्नगी की तह में

तिश्नगी में कभी दरिया पे भरोसा मत कर
ये किनारा भी दिखा कर ग़र्क़ कर जाएंगे

जो किनारों की तमन्ना लिए उतर आएंगे
अपनी ही प्यास के सैलाब में बह जाएंगे

कश्तियाँ टूट भी जाएँ तो ग़म न कर
कुछ सफ़र डूब के भी रौशनी पा जाएंगे

जिसको दरिया समझ बैठे थे हम बरसों से
वो तो आँसू थे जो पलकों से उतर जाएंगे

रात भर दर्द को बहते हुए देखा लेकिन
सहर होगी तो हर ज़ख़्म सँवर जाएंगे

क़तरा-क़तरा लहू से बुझ न सकी ये तिश्नगी,
इश्क़ में जाम कोई हो - हम पिए जाएँगे

तिश्नगी भी है मगर शौक़-ए-सहर बाक़ी है
हम इसी आग में जलते हुए खिल जाएंगे

वक़्त की गर्द ने चेहरों को भुला डाला
तेरे एहसास से हर पल को जिया जाएंगे

उसने पूछा न कभी फिर भी दुआ देते हैं
तेरी यादों को इबादत समझ रच जाएंगे

हमको यादों में डूबे हुए मुद्दत हुई लेकिन
अब तेरे नाम की लौ बन के चराग़ बन जायेंगे

अब कोई प्यास न शिकवा न कोई ग़म बाक़ी
तेरे साए में 'शफ़क़'हर वफ़ा को निभा जाएंगे

तिश्नगी – प्यास
ग़र्क़: बरबाद, डूबा हुआ
सैलाब: बाढ़
कश्तियाँ – नावें
सहर – सुबह

ग़ज़ल: ‘ सिला-ए-सफ़र’

प्रस्तावना:

हर सफ़र की एक कीमत होती है - कुछ खोकर कुछ पाने का एहसास, कुछ बिखरकर खुद को समेटने की कोशिश, और अंधेरों से लड़कर उजाले तक पहुँचने की जद्दोजहद। ‘शफ़क़’ की ग़ज़ल ‘सिला-ए-सफ़र’ उसी थकन भरे मगर उम्मीदों से रौशन सफ़र की शाइस्ता तस्वीर है।

यह ग़ज़ल उन लम्हों को बयाँ करती है, जहाँ रास्ते रेत की तरह तपते थे, और पाँव छाले से भरे थे - मगर अब वही रास्ते गुलों से भर गए हैं। जिन हवाओं ने पहचान मिटाई थी, अब वही हवाएँ रोशनी की ख़ुशबू ला रही हैं।

शायरी में दर्द, सिर्फ़ दर्द नहीं रहता - वह उम्मीद की ज़मीन बन जाता है।

उनका यह काव्य एक तरह की रूहानी पुनर्रचना है - जहाँ खोई हुई मुस्कानें लौटती हैं, बुझी हुई उम्मीदें फिर से दरिया बन कर बहती हैं, और वीरानों में दीप जल उठते हैं।

ग़ज़ल का हर शेर एक क़दम है उस रास्ते का - जो अंधेरों से होकर, रौशनी तक ले जाता है।

यहाँ न हार का रोना है, न तक़दीर का शिकवा- बल्कि हर ठोकर को सबक़ बना कर, हर आह को दुआ में बदल देने का हौंसला है।

अंत में जब शायर कहते हैं -

‘अंधेरों को चीर कर सूरज हमारे साथ चला है अब’,

तो यह सिर्फ़ शेर नहीं, एक यक़ीन है - जो हर टूटे दिल के लिए एक नया सवेरा लाता है।

सिला-ए-सफ़र’ नज़्म नहीं, एक इनाम है - उस सब्र और संघर्ष का, जो रौशनी तक पहुँचने के लिए ज़रूरी है।

ग़ज़ल: ‘ सिला-ए-सफ़र’

मुक़द्दर हार कर अब मुस्कुराने लगा है दिल अब
जो बिखरा था कभी, वो आशियां फिर से सजा है अब

सुलगती रेत पर चलते हुए छाले जो आये थे
उन्हीं पैरों के नीचे गुलों का फ़र्श बिछा है अब

हवा का रुख बदलते ही बदलने लगे हैं मंज़र
ग़मों का सिलसिला भी ज़ख़्म पर मरहम लगा है अब

कभी जो आँधियों में अपनी ही पहचान खो बैठे
उसी वीरान बस्ती में दिया फिर जगमगा है अब

लबों की तन्हाइयों में अब सुरों की भी मिठासें हैं
दर्द की धुन में ज़िन्दगी फिर गुनगुनायी है अब

दुआ की तपिश ने फिर से ख्वाबों को शाख़ दी है,
किसी टूटी हुई उम्मीद का दरिया फिर बहा है अब

नज़र जो देखती थी बस उदासी के तसव्वुर में,
उसी मंज़र से आगे इक नया रस्ता खुला है अब

'शफ़क़' अब रौशनी के इस सफ़र का सिला देखो
अंधेरों को चीर कर सूरज हमारे साथ चला है अब

मुक़द्दर: भाग्य
आशियां: घोंसला, घर, निवास स्थान
गुलों: फूलों
मंज़र: दृश्य, नज़ारा
शाख़: टहनी, डाल
तसव्वुर: कल्पना, सोच, विचार
सिला: परिणाम, इनाम, फल

ग़ज़ल: 'अंदाज़-ए-ज़ुबाँ - एक फन, एक फ़लसफ़ा'

प्रस्तावना:

इंसान के पास जो सबसे बड़ा वरदान है, वो है ज़ुबाँ - पर उससे भी बड़ा वरदान है उसका अंदाज़।
बात क्या कही गई, उससे कहीं ज़्यादा असर डालता है कि कैसे कही गई।
एक ही बात किसी को तसल्ली भी दे सकती है और उसी को ज़रा से रूखेपन से कहा जाए तो तन्हा भी कर सकती है।
ज़ुबान सिर्फ़ अल्फ़ाज़ का ज़रिया नहीं - ये इंसान की नियत, समझदारी, संवेदनशीलता और तहज़ीब की आईना होती है।
हम जो कहते हैं, वो सुनने वाले के दिल में कहाँ तक और कैसे उतरता है-"इसका फ़ैसला हमारे कहने के लहजे से होता है।
यह ग़ज़ल "अंदाज़-ए-ज़ुबाँ" - एक कोशिश है उस फ़र्क़ को महसूस कराने की।
इसमें अल्फ़ाज़ को फूलों-सा बरतने की सीख है, सलीक़े से हक़ की बात कहने का हुनर है,
और इस अहसास की गहराई है कि हर सच, अगर सलीके से कहा जाए, तो ज़ख़्म नहीं बनता - दवा बन जाता है।
यहाँ शेर सिर्फ़ मिसरे नहीं हैं –
ये ज़िंदगी से जुड़ी उन बातों की बानगी हैं जिन्हें हम अक्सर महसूस तो
हैं, पर कहने का ढंग नहीं जानते।
इस ग़ज़ल में भावनात्मक रूह है, शैक्षिक दिशा है और आध्यात्मिक नूर भी
ताकि हर पाठक अपने लहजे पर एक पल ठहरे, सोच सके…
कि मेरी आवाज़ सिर्फ़ मेरी नहीं - किसी और की रूह पर असर डाल सकती है।

ग़ज़ल: 'अंदाज़-ए-ज़ुबाँ - एक फन, एक फ़लसफ़ा'

मत कहो यूँ कि कोई टूट के बिखर जाए
बात कर इस तरह कि कोई न सिहर जाए

ज़हर भी हो तो असर फूल-सा रख दो तुम
लफ़्ज़ बरसे , मगर ज़रा अंदाज़ निखर जाए

दर्द बाँटोगे अगर, शिद्दत-ए-जज़्बात से कहो
क्या पता लफ़्ज़ तुम्हारे में ही असर जाए

हर हक़ीक़त को भी कह दो यूँ हसीं लहजे में,
कि उसकी तासीर से आईना भी सँवर जाए

शब्द पत्थर भी बने हैं तो सलीक़े से चुनो
एक लहजा ही किसी दिल को शज़र जाए

जैसे माली की दुआ फूल में महकती है
यूँ ही बोलो कि कोई रूह संवर जाए

किसी तन्हा को जो बाँटना हो अपना सुकूँ
बस यूँ कह दो -"मैं तेरे साथ ही घर जाए"

इल्म बाँटना है गर, लहजा हो चिराग़ों जैसा
जो अँधेरों में भी तेरे अंदाज़ से रौशन हो जाए

ज़िक्र उसका भी करो लुत्फ़ से, लहजे में नूर
नाम उसका हो लबों पर -और असर जाए

'शफ़क़' शेरों में यही बात सँभल कर कह दे,
सच भी हो और किसी की नज़र से न उतर जाए

अंदाज़-ए-ज़ुबाँ: बात कहने का सलीक़ा
असर: प्रभाव, असर करना
तासीर: प्रभावशीलता
आईना: दर्पण, प्रतीक रूप में — आत्मचिंतन
शज़र: वृक्ष; यहाँ रूपक के तौर पर- स्थायित्व, सुकून
रूह: आत्मा, अंतरात्मा
तन्हा: अकेला
सुकूँ: शांति, सुकून
चिराग़: दीपक; प्रतीक रूप में — ज्ञान या उजाले का स्रोत
लुत्फ़ से: सलीक़े से, प्रेमपूर्वक
नूर: प्रकाश, दिव्यता, ईश्वरीय चमक

ग़ज़ल: 'ख़ामोश रिश्ते'

प्रस्तावना:

ख़ामोशियाँ भी बोलती हैं - बस समझने वाला चाहिए
कुछ रिश्ते आवाज़ नहीं, एहसासों की तहरीर होते हैं
नज़रों से दूर, मगर दिल के सबसे पास होते हैं
वक़्त, दूरी, या शब्दों की ज़रूरत नहीं होती उन्हें
वो बस ख़ामोशी में पलते हैं, दुआओं की तरह आस होते हैं।
हर रिश्ता लफ़्ज़ों का मोहताज नहीं होता 'शफ़क़',
कुछ नज़रों से कह जाते हैं… जो कभी कहा ही नहीं जाता।
इसी एहसास से गुँथी हुई है यह ग़ज़ल –

ग़ज़ल: 'ख़ामोश रिश्ते'

न बोलते हैं, न सुनते, फिर भी वो साथ होते हैं
ख़ामोश रिश्ते भी अक्सर, दिल के पास होते हैं

न चिट्ठियों की ज़रूरत, न किसी पैग़ाम की मौहलत
ये चुप से रिश्ते बस दिल की ज़ुबान होते हैं

नज़ाकतों में लिपटा है, फ़कत एहसास का साया
ये वो उजाले हैं जो बे-चराग़ उजास होते हैं

नहीं जो वक़्त माँगें, न कोई नाम पूछें मगर
दुआ में शामिल हर इक दिन-ओ-रात होते हैं

कभी सिसकियों में मिलते, कभी खामुशी में जलते
ये रिश्ते ख़्वाब होते हैं - नमी के साथ होते हैं

न हिज्र से घबराते, न वस्ल की तमन्ना
वो लोग बस दुआ बनकर हमारे साथ होते हैं

जो ठहरे हों नज़रों से कहीं दूर बरसों तक
वो भी इक दिल के कोने में सदा पास होते हैं

जो लफ़्ज़ में न ढल पाए, वो एहसास कहें कैसे,
जो ख़ुद से भी न बोलें, वो अल्फ़ाज़ होते है

वो मुस्कुराहटें जो दर्द में भी रहमत बनें
ख़ामोश रिश्तों के वो ही अंदाज़ होते हैं

न हाथ थामे कोई, न कंधा साथ चलता है
मगर कुछ रिश्ते रूह में हमराज़ होते हैं

ख़ामोशियाँ भी बोलती हैं - बस समझने वाला चाहिए,
कुछ रिश्ते आवाज़ नहीं, एहसासों की तहरीर होते हैं।

'शफ़क़' बस यूँ ही कुछ साये रुहानी चल पड़े हैं
न थे कभी भी हमारे, मगर वो ख़ास होते हैं

हिज्र: वियोग, बिछुड़ना
वस्ल: मिलन
अल्फ़ाज़: शब्द, लफ़्ज़, बातें
रहमत: कृपा, करुणा,
रूह: आत्मा, जीवन शक्ति
हमराज़: राज़दार
रुहानी: आत्मिक, आध्यात्मिक

ग़ज़ल: 'रूह की मंज़िल'

प्रस्तावना:

ज़िंदगी का हर सफ़र सिर्फ़ रास्तों से नहीं, रूह से तय होता है। कई बार हम चल तो रहे होते हैं, मगर समझ नहीं पाते कि असली मंज़िल कहाँ है। यह ग़ज़ल उसी अंदरूनी सफ़र की बात करती है - जहाँ ख़्वाब दुआ बन जाते हैं, और रूह इश्क़ में भीग कर कुछ नया देखना सीखती है।

"रूह की मंज़िल" एक ऐसी कविता है जो दिखाती है कि जब इंसान खुद से ऊपर उठता है, तब रास्ते भी उसका नाम पूछने लगते हैं और मंज़िलें भी उसकी तरफ़ बढ़ती हैं। यह ग़ज़ल इश्क़, जुदाई, सजदे और खुदा की पहचान के ज़रिए एक ऐसी दुनिया रचती है जहाँ फ़ना में भी ज़िंदगी मिलती है, और बंद आँखों में भी दीदार हो जाता है।

यह कोई आम ग़ज़ल नहीं - ये एक ऐसी बात है जो हर उस शख़्स के दिल से जुड़ती है जिसने कभी खुद से मिलने की कोशिश की हो।

"इश्क़ जब रूह से उठता है सजदे बनकर
हर सफ़र में क़दम मंज़िल की तरफ़ जाते हैं"

ग़ज़ल: 'रूह की मंज़िल'

हमने साँसों में भरे थे जो तसव्वुर की तरह
अब वही ख़्वाब, दुआ बन के उतर आते हैं

रास्ते पूछते रहते हैं तअल्लुक़ मेरा
और क़दम हैं कि तअज्जुब से बदल जाते हैं

वक़्त भी जैसे ठहरता है मेरी फ़िक्र तले
इश्क़ में रूह के मंज़र ही संवर जाते हैं

हिज्र की धूप से महफ़ूज़ है हर साँस मेरी
जब से सजदे मेरी राहों पे बिखर जाते हैं

रूह जब तजल्ली-ए-इश्क़ से भीग जाती है
हर तरफ़ नक़्श-ए-ख़ुदा देखे नज़र आते हैं

इक नज़ारा है - कि फ़ना में भी हयातें हैं कहीं
बंद पलकों में भी कुछ दीदार उतर आते हैं

ख़ुद से उठ कर जो चला, वो ही पहुँचा है वहाँ
जहाँ सजदे भी मसीहा के सफ़र पाते हैं

'शफ़क़' जो रुकता कहीं, इक हसरत बनकर
सफ़र में है तो मंज़िल भी वही पाते हैं

तसव्वुर: कल्पना
तअल्लुक़: रिश्ता, संबंध
तअज्जुब: हैरानी, अचरज
हिज्र: जुदाई, वियोग
सजदा: सच्चा समर्पण
तजल्ली: ईश्वरीय प्रकाश, दिव्य प्रकटता
हयात: जीवन
दीदार: दर्शन, झलक
फ़ना: आत्मविलय,
नक़्श-ए-ख़ुदा: ईश्वर की छाप

ग़ज़लः ‘ हदों की हिफ़ाज़त’

प्रस्तावनाः

हर रिश्ते, हर संबंध, हर इच्छा और हर स्वप्न की एक सरहद होती है।
मर्यादा - कोई बाहरी बाड़ नहीं, कोई सामाजिक दंड का भय नहीं।
मर्यादा एक अंतःकरण का अनुशासन है - जो इंसान को उसके ही भीतर से थामता है।
जिस क्षण हम यह समझ लेते हैं कि“हर इच्छा का पालन ज़रूरी नहीं, हर जवाब देना न्याय नहीं, और हर मौन कायरता नहीं, ”उसी क्षण हम मर्यादा के पहले द्वार पर होते हैं।
जो चुप रह जाए वक़्त पे वो कमज़ोर नहीं, शराफ़त है
जो टूट के भी बचा रहे
वो हद नहीं - इनायत है
हर बोल नहीं होता सच
हर सच नहीं होता हक़
मर्यादा वो फ़ासिला है
जहाँ रुक जाना भी सलीक़ा है
इस ग़ज़ल में मर्यादा को किसी ग्रंथ से नहीं, बल्कि मनुष्यता की धड़कनों से जोड़ा गया है।
यह उन क्षणों की बात करती है जहाँ इंसान अपने अधिकार को जानते हुए भी उसे ठुकरा देता है –
क्योंकि सामने कोई रिश्ता खड़ा होता है,
या कोई आत्मा काँप रही होती है,
ये ग़ज़ल बताती है कि “कभी-कभी हार जाना, जीतने से ऊँचा होता है”
हद से जो गुज़रे, जले अक्सर
हद में रहे तो बच पाए
जो चाह के भी कह न सका
वो अश्क़ बनकर बह पाए
इस ग़ज़ल में मर्यादा एक मौन भाषा बनकर उतरती है –
कभी इश्क़ के लहज़े में,
कभी रिश्तों की तहज़ीब में,
और कभी उस सन्नाटे में
जहाँ कुछ कहना मुमकिन होता है –
मगर न कहने में ही आत्मा महफ़ूज़ रहती है।

ग़ज़ल: ‘ हदों की हिफ़ाज़त’

मत लांघ हर इक सरहद को कुछ दर्द अमानत होते हैं
कुछ ज़ख़्म उभरते हैं ऐसे, जो उम्र की हिकायत होते हैं

हर बात को कह देना यारो अच्छा तो नहीं हर हाल में
कुछ लफ़्ज़ दबी आवाज़ों में रूहों की सियासत होते हैं

हर इश्क़ पे हक़ तो सबका है पर ज़िद में न सब कुछ कह देना
मर्यादाओं के साये तले कुछ लफ़्ज़ इबादत होते हैं

जो देख के भी अनदेखा हो वो फ़र्ज़ नहीं बेबसी भी है
कुछ रिश्ते ख़ुदा से जुड़ते हैं कुछ फ़र्ज़ क़यामत होते हैं

हद टूट गई तो क्या पाया बस खौफ़ ही हिस्से आया है
इंसान वही कहलाता है जो हद का सिपाही होता है

हर बार न बोलो सच इतना कि सच भी तमाचा लग जाए
कुछ राज़ बचे रह जाने दो कुछ चुप भी हिकायत होते हैं

लब हिलते नहीं हर महफ़िल में ये सब्र की आदत है शायद
‘शफ़क़’ जो नहीं कह पाया है वो अश्क़ की राहत होते हैं

हिकायत: किस्सा, वृत्तांत
सियासत: राजनीति, चालाकी, कूटनीति
रवानी: प्रवाह, बहाव, सहजता
क़यामत: प्रलय, दुनिया का अंत

ग़ज़ल: 'कभी हार कर भी देख...'

प्रस्तावना:

हम अक्सर जीत को ही लक्ष्य मान बैठते हैं - जैसे हर मोड़ पर जीत ही हमारी पहचान हो, और हार एक नाकामी। लेकिन क्या कभी आपने उस हार को महसूस किया है, जो आपको भीतर से बदल देती है?
जो आपके 'मैं' को पिघलाकर, आपको किसी और की पीड़ा से जोड़ देती है?
जिसमें झुकना हार नहीं होता, बल्कि एक नई ऊँचाई का पहला क़दम बन जाता है?
कभी-कभी जो बात ज़ुबां नहीं कह पाती, वो एक खामोश हार कह देती है।
कभी किसी के सामने झुक जाना, खुद को जीतने का पहला रास्ता होता है।कभी खुद से हार जाना, खुदा से मिलने की शुरुआत होती है।
यह ग़ज़ल उसी जज़्बे की बात करती है - जहाँ हार में भी रौशनी है, राहत है, और रहमत है।
जहाँ हर शिकस्त एक नई दुनिया, नई सदा बन सकती है…
बस एक बार - "कभी हार कर भी देख…"

ग़ज़ल: 'कभी हार कर भी देख...'

कभी हार कर भी देख, जीत की सदा होगी
तेरी हर शिकस्त में एक नई दुआ होगी

जो झुका ज़मीन पर, आसमाँ उसी ने पाया
तू भी सर झुका के देख, रूह कितनी सब्ज़ होगी

ये जो तेरी ज़िद है बस "मैं ही सही" वाली
कभी खुद से हार ले, ख़ामुशी भी रौशनी होगी
तू जो अपनी जीत में दूसरों को हराता है
कभी बाँट कर भी देख, कैसी रहनुमा होगी

जो ग़ुरूर है तुझमें, वो भी इक पल की बात है
कभी अश्क पी के देख, रूह कितनी तर होगी

हर सवाल का जवाब सिर्फ़ शब्दों में नहीं होता
कभी सुन के देख ख़ुद को, क्या अजब सदा होगी

नफ़्स के तख़्त से भी नीचे उतर के चल थोड़ा
कभी दर्द बाँट के देख, कैसी राहतें वफ़ा होंगी

हर नज़र नहीं समझती आइनों की जुबां को
कभी आँख मूंद के देख, क्या हक़ीक़तें अदा होगी

जिसे तू समेटता फिरा, वो रेत-सी थी बस
कभी मुट्ठी खोल के देख, रहमतें बरसती होंगी

तेरी सोच के परे भी एक जहाँ है 'शफ़क़'
कभी हार कर भी देख, जीत कितनी खरी होगी

शिकस्त: हार,
सब्ज़: हरी, ताजी
रहनुमा: मार्गदर्शक, सच्चा साथी
ग़ुरूर: अहंकार, घमंड
नफ़्स ; आत्ममोह, मन की वासना
अदा: पूरा करना, अर्पण करना (कभी 'अंदाज़' के अर्थ में भी)
रहमतें: कृपा, ईश्वरीय अनुकंपा

ग़ज़ल: 'मंज़िल बुलाती है'

प्रस्तावना:

कुछ आवाज़ें बाहर से नहीं आतीं - वे भीतर से उठती हैं।
ये ग़ज़ल उन्हीं आवाज़ों में से एक है-जब ज़िन्दगी रुकने को कहती है, तो यह कहती है चलो, अभी बहुत कुछ बाकी है।
"मंज़िल बुलाती है" - केवल हौसले की ग़ज़ल नहीं, बल्कि यह उन सभी राहगीरों की नज़र और नीयत को फिर से तराशने का आह्वान है जो कभी थके हैं, कभी टूटे हैं, और अब फिर उठने की तैयारी में हैं।

ग़ज़ल: 'मंज़िल बुलाती है'

रुके जो दिल में फ़ैसले, हिम्मत भी थक जाती है
मगर नसीब को सदा मंज़िल बुलाती है

जहाँ से लौटते हैं लोग डर के साये में अक्सर
उसी जगह पे हौसला मंज़िल बना लाती है

जो गिरते वक़्त भी आँखों में मंज़र रखता है
राह हर मोड़ पर उसी को ही पहचानती हैं

जो खुद से जंग लड़ता है, वही खुदी को पाता है
हक़ीक़तों की रौशनी अक्सर राह दिखाती है

हर एक हार, इक सवाल छोड़ जाती है पीछे
जवाब बनने की यही फ़ुर्सत दिलाती है

न दास्ताँ वो हैं जिन्हें भीड़ ने सर आँखों चढ़ाया
वो लोग ही अमर हुए जिनको सलीब आती है

छोटे मफ़ाद में जो उलझे, वो सुकूँ क्या पाएँगे?
बड़ी मुरादें तो हमेशा क़ुर्बानी माँगती हैं

'शफ़क़', तू जिस तरफ़ गया, मंज़िल वहाँ मिलती रही
रवायतों से लड़ने की हिम्मत राह बनाती है

मंज़र: दृश्य, दृश्यावली
खुदी: स्वाभिमान, आत्म-चेतना
सलीब: प्रतीकात्मक रूप में-त्याग, बलिदान
मुरादें: इच्छाएँ
रवायतों: परंपराएँ
मफ़ाद: लाभ, नफ़ा

ग़ज़ल: ‘मैं बहु जन्मा हूँ’

प्रस्तावना:

हर इंसान का एक जन्म होता है - माँ की कोख से। लेकिन अगर हम थमे नहीं, टूटे नहीं, चलते रहे -तो जीवन हमें बार-बार नये जन्म देता है।
कभी किसी ने हमारी पीठ पर भरोसे का हाथ रखा, तो लगा हम फिर से जिए।
कभी किसी किताब ने हमारे अंतर्मन को छू लिया, तो लगा कोई नया हम जन्मा है।
कभी कोई अजनबी ही ऐसा मिला जो हमें हमसे बेहतर समझ गया और हमने खुद कोपहली बार पाया।
यह ग़ज़ल उस यात्रा का गीत है जहाँ हर मोड़ पर, हर दर्द पर, हर दिशा पर हमने नए जन्म की अनुभूति की।
यह आभार है, उन तमाम लोगों और लम्हों का जिन्होंने हमें गिरने नहीं दिया, बल्कि सँभालकर हमें हमसे बेहतर बना दिया।
(नोट: यह ग़ज़ल बहर से मुक्त तथा क़ाफ़िया , रदीफ़ के बंधन से बाहर होकर रची गई है तथा भाव की प्रधानता को ही महत्व दिया गया है)

ग़ज़ल: ‘मैं बहु जन्मा हूँ’

मैं बहु जन्मा हूँ , हर सदा में नयी ज़िंदगी मिल जाती है
कभी माँ की ममता, कभी दोस्ती की छाया है कहीं

कभी साँस टूटी, कभी रूह रोयी, मगर कोई थामा भी
किसी इक दुआ ने मुझे फिर से जीना सिखाया है यूँ ही

कभी एक नज़र ने बदल दी निगाहें मेरी इस जहाँ में
कभी इक ख़मोशी ने मुझसे मेरा सच ही बताया कहीं

कभी लफ़्ज़ बोले, तो अंदर की दीवारें दरकने लगीं
कभी एक किताब ने चुपचाप आईना दिखाया वहीं

कभी गिर के टूटा, तो शब्दों ने थामा मुझे
हर इक मोड़ पर रूह की इक नयी अंगड़ाई रही

जो देखा किसी ने, मेरी धड़कनों में स्वप्न-सा
उसी लौ को देख मेरी लौ भी जगमगाई कहीं

जिसने समझा मुझे, उसने मेरा सच बुन दिया
उसी बुनावट से मेरी हस्ती सँवरती गयीं

कभी एक नज़र, तो कभी एक लफ़्ज़ का असर
मेरे बिखरे वजूद में तस्वीर-सी बनती रही

चलते चलते किसी ने रुख़ मेरा कुछ यूँ मोड़ दिया
और फिर हर दिशा एक नयी पगडंडी मिलती गयी

कभी ठोकरों से ही रस्ता मिला और चलना भी आया
कभी राह भूली, तो कोई दिया बन के जलता रहा वहीं

कभी दर्द ने ही दुआ की तरह मेरी मिट्टी को छाना
कभी एक सवाल ने मेरी सोच को पंख लगाया यहीं

मैं जो भी बना, किसी लम्हे की गोद में बनता गया
हर रुकावट, हर शख़्स, हर मोड़ ने कुछ तो सिखाया वहीं

'शफ़क़' अब न पूछो मैं कौन हूँ, कहाँ से चला था कभी
मैं हर चाह, हर छाँव, हर चोट में फिर से जन्मा यहीं

ग़ज़ल: 'ये निशान बोलते हैं'

प्रस्तावना:

हर ज़ख़्म लहू नहीं माँगता-कुछ ज़ख़्म बस चुप रहते हैं, और चुपचाप रूह पर कहानी लिख जाते हैं। ये निशान कभी किसी तल्ख़ अल्फ़ाज़ से बनते हैं , कभी किसी की ख़ामोशी से, और कभी उस वक़्त से -जो गुज़र तो जाता है, मगर अंदर कुछ रोक जाता है। इन निशानों की कोई आवाज़ नहीं होती, मगर फिर भी ये हर रात दिल की दीवारों पर दस्तक देते हैं, कभी साँसों के साथ सरगोशी करते हैं, तो कभी अंधेरे में परछाईं बनकर पीछा करते हैं।

ये वही निशान हैं, जिन्हें कोई और देख नहीं सकता, पर हम गाहे बगाहे महसूस करते हैं - उन लफ़्ज़ों में जो कहे नहीं गए, उन आँसुओं में जो बहे नहीं, और उन यादों में जो मिटाई नहीं जा सकीं।

ये ग़ज़ल उन्हीं बेआवाज़ ज़ख़्मों का बयान है - जिनके पास कहने को बहुत कुछ है…क्योंकि "ये निशान बोलते हैं…"

ग़ज़ल: 'ये निशान बोलते हैं'

हम तो खामोश हैं सदियों की तरह लेकिन
आईने रूह के अफ़साने सुनाते हैं

छाँव में भी कभी जलन सी क्यों महसूस हो
वो पुराने ग़म कहीं पर छुप नहीं पाते हैं

लफ़्ज़ अब तक नहीं बोले किसी तन्हाई में
किसी के छोड़े हुए जुमले चुभन दे जाते हैं

जिस्म की सर्द हवा रोक नहीं पाती इन्हें
ये जो आँसू हैं, कहीं रगों में ही पिघल जाते हैं

लोग कहते हैं फ़क़त वक़्त दवा होता है
कुछ अलामात मगर उम्र निभा जाते हैं

हर कोई देख न पाए, ये ज़ख़्म ऐसे हैं
जो अंधेरों में भी परछाईं बन जाते हैं

दिल को महसूस हो जैसे कोई दस्तक-सी
कुछ यादें भी कई दर पे सदा लाते हैं

हमने सीने में दबा रक्खे हैं ये काँटों के गुल
कोई छेड़े तो वही काँटे उगा जाते हैं

दिल पर जो नक़्श-ए-वक़्त गिरा करते हैं 'शफ़क़'
वो मिटें भी तो फिर किसी मोड़ पे आ जाते हैं

निशां: चिह्न, दाग़, छाप
सरगोशी: कानाफूसी
रूह: आत्मा, मन का गहरा हिस्सा
अफ़साने: कहानियाँ, किस्से
जुमले: शब्द, वाक्य
सर्द हवा: ठंडी हवा, निर्जीव अनुभूति
अलामात: निशानियाँ, संकेत
गुल: फूल
काँटे: तकलीफ़देह बात या याद
नक़्श-ए-वक़्त: समय की छाप, यादें जो वक़्त छोड़ जाता है

ग़ज़ल: ‘ रहगुज़र–ए–शुकर’

प्रस्तावना:

ज़िन्दगी एक सफ़र है जो हर किसी को तय करना होता है - मगर कुछ लोग मुस्कुरा कर इसे आसान बना जाते हैं।
यह ग़ज़ल सिर्फ़ कुछ अशआर नहीं, बल्कि एक सूफ़ियाना नक़्शा है उस राह का, जहाँ हर मोड़ पर हमसे हमारा ही सामना होता है।
दर्द, राहत, हौसला, और शुक्र - ये सब इसके हमराही हैं।
‘शफ़क़’ की आवाज़ यहाँ अपने ही रूहानी सवालों और जवाबों के बीच गूंजती है।
यह ग़ज़ल ज़िन्दगी को अल्फ़ाज़ की इबादत में तब्दील कर देती है।

समर्पण

“उन तमाम मुसाफ़िरों के नाम-जिन्होंने अँधेरी राहों में भी उम्मीद की मशाल थामे रखी।”
“माँ की उस पहली मुस्कान को, जिसने जीस्त के हर पड़ाव पर रौशनी बिखेरी।”
“हर टूटे दिल के लिए, जिसने दर्द को दुआ में ढाला और सफ़र को सुरीला बनाया।”
“रूह के उन हमराहियों को, जिनके सवाल ही आख़िरकार जवाब बन गये।”
“वक़्त के दामन में छिपे हर लम्हे को-शुकर और सब्र की ख़ुशबू के साथ।”

ग़ज़ल: ‘ रहगुज़र-ए-शुकर’

आते हैं यहाँ सब इक मुसाफ़िर की तरह
कुछ लम्हों का सफ़र है, फिर रुख़सत की डगर

रूह का ये कारवाँ है बस सवालों के तले
ख़ुद से ही ख़ुद के जवाबों का है मीलों सफ़र

ज़िन्दगी भी क्या है - इक नाज़ुक-सी ख़ुशबू
जो रूह में घुलती चली जाए बेमिसाल असर

जो बीता कल है, उसे ताज़ा गिला मत बना
आने वाला भी कल लाएगा नई रहगुज़र

दर्द आए तो उसे भी इक हुनर जानो यक़ीं
ज़ख़्म खिलते हैं जहाँ फूल बनकर शजर

हर फ़ना के बाद उभरती है इक नई रौशनी
रात गहरी हो तो सूरज भी सँवरता है असर

अपनी हर साँस में इक शुकर का जज़्बा रखो
रब ने ये पल भी मुद्दत से बख़्शा है अगर

हौसलों से जो बने, उनसे बनें रास्ते कई
वरना काँटे भी सँवारें हैं कई गुलशन मगर

वक़्त के खेल में हर पल की है कीमत बहुत
जो गुज़रे ना अभी, उसकी क़द्र हो तो गुज़र

'शफ़क़' इस जीस्त का हासिल भी यही पैग़ाम है
मुस्कुरा कर ही गुजरता है ये मुश्किल सफ़र

रुख़सत: विदा, अलविदा की घड़ी
कारवां: यात्रा में साथ चलने वाले सवाल-जवाबों का समूह
गिला: शिकायत या मलाल
रहगुज़र: रास्ता, नई दिशा
हुनर: कला, समझदारी
शजर: वृक्ष, प्रतीकात्मक रूप से जीवन
फ़ना: नाश, अंत
शुकर: कृतज्ञता, आभार
मुद्दत: लंबा समय, प्रतीक्षा की कसौटी
गुलशन: बग़ीचा, उपवन
जीस्त: जीवन, जीवन-यात्रा

ग़ज़ल: "देने का सुकून"

प्रस्तावना:

हम ज़िन्दगी को अक्सर जोड़ने, पाने, और सहेजने की दौड़ में जीते हैं - रिश्ते, चीज़ें, पहचान…मगर वक़्त चुपके से सिखा देता है कि "दे देना" - चुपचाप, निःस्वार्थ, बेइंतिहा -यही सबसे बड़ा सुकून है।

तक को ज़ख़्म दे गए…रिहा कर देना उन्हें, जो तुम्हारे साथ रहकर भी कहीं और थे…और बाँट देना वो ख़ुशी, जिसे दिल में दफ़न कर रखा था -
ये सब कोई हार नहीं, बल्कि एक ऐसी रिहाई है जो रूह को मुकम्मल करती है।
सच्चा सुख, किसी को कुछ देकर हल्का हो जाने में है, ना कि बटोर कर भारी हो जाने में।

देना आत्मा की ऊँचाई है -और जो इस ऊँचाई को पा जाता है, वो दुनिया से ऊपर उठ जाता है, क्योंकि छोड़ना एक हार नहीं, बल्कि जीवन का सबसे ख़ूबसूरत उपहार है।

ग़ज़ल: "देने का सुकून"

छोड़ने का भी फ़न है, यूँ ही बदनाम न कर
हर जुदाई को तू अफ़सोस का नाम न कर

जो भी आया है, जाएगा यक़ीनन इक दिन
ज़िन्दगी को बस तू एहसान का नाम न कर

दे दिया कर ख़ुशी, दर्द भी बाँट लिया कर
अपनी चाहत को तू मोल का सामान न कर

हाथ खाली भी हों, फिर भी दिल बड़ा रख
हर सितम पे गिला करना तुझको शान न कर

किसी की मुस्कराहट में बसा है सुकूँ
ये हिसाबों की तरह रिश्तों को बदनाम न कर

जो गया छोड़ के तुझको, रिहा हो गया
तू भी आज़ाद हो, बेवजह इल्ज़ाम न कर

जो बटोरेंगे, वो थक जाएँगे बटोरते एक रोज़
तू तो बाँट, बस किसी से कुछ भी उम्मीद न कर

तन के रहना भी इक बोझ बन सकता है
छोड़ दे अहम को, तालिब-ए-शोहरत न कर

जो नहीं समझे तेरी खामोशी का सबब
ऐसे रिश्ते को निभाना छोड़, फ़िकर न कर

हर सवाल को जवाब की ज़रूरत नहीं होती
कभी-कभी चुप भी कर, जवाब न कर

'शफ़क़' बाँटता रहा हर साँस में रौशनी
अब किसी उजाले की उससे तलब न कर

फ़न: कला, हुनर
सितम: अत्याचार, ज़ुल्म
गिला: शिकवा, शिकायत
अहम: घमंड, अहंकार
तालिब-ए-शोहरत: यश/प्रसिद्धि का चाहने वाला
तलब: चाह, ख्वाहिश, प्यास

ग़ज़ल: 'अनजान रिश्ता'

प्रस्तावना:

कुछ रिश्ते होते हैं जो न परिचय माँगते हैं, न सामाजिक स्वीकृति।न उनके बीच "तुम कौन हो" का सवाल होता है, न "हमारा क्या है" की उलझन। वो बस होते हैं - दिल के किसी कोने में टिके हुए, बिना कोई दावा किए, बिना किसी अपेक्षा के, फिर भी जब हमारी रूह काँपती है, वो मौन सहारा बन जाते हैं।
यह ग़ज़ल, उन्हीं "बेनाम रिश्तों" की ख़ामोश ख़ुशबू है जो दूर रहकर भी हर लम्हे में हमारे साथ होते हैं।

ग़ज़ल: 'अनजान रिश्ता'

वो जो ख़ामोशी से हर अहसास में शामिल रहा
एक रिश्ता था मेरा, पर नाम से ग़ाफ़िल रहा

ना कोई वादा, ना दावा, ना इबादत की सदा
फिर भी हर दुआ में वो, सबसे मुक़द्दस रहा

जब भी टूटा मैं कहीं, उसकी सदा आयी
वो हर बार ही बस मौन में हासिल रहा

मैं समझता था जिसे बस एक छाया भर कभी
वो तो रूहों की तरह मुझमें मुक़ामिल रहा

ना मोहब्बत, ना तअल्लुक़, ना कोई नाम था
बस वही था जो हमेशा दिल के क़ाबिल रहा

हर दफा जब मेरी तन्हाई ने आवाज़ दी
उसके सन्नाटे में इक रिश्ता सा शामिल रहा

वक़्त की गर्दिश में जब सब कुछ बदलने लगा
वो ही रिश्ता था जो हर हाल में सामिल रहा

उसकी आँखों में मेरे दर्द का साया मिला
एक अजनबी था, मगर दिल से मुसल्सल रहा

मैंने जो भी खो दिया, वो चुपके से रख गया
मेरा साया बन के, हर मोड़ पे ग़म-ग़ुस्सल रहा

'शफ़क़' अब सोचता हूँ, क्या वो मेरा अक्स था?
या किसी "अनजान रिश्ते" का मुक़द्दर हासिल रहा…

ग़ाफ़िल: बेख़बर, अनजान
मुक़द्दस: पवित्र, पाक
हासिल: प्राप्त, पाया गया
मुक़ामिल: पूर्ण, संपूर्ण
तअल्लुक़: संबंध
गर्दिश: परिवर्तन, घूमाव
सामिल: शामिल, मौजूद
मुसल्सल: लगातार, निरंतर
ग़म-ग़ुस्सल: दुख धोने वाला, सांत्वना देने वाला
अक्स: प्रतिबिंब, परछाईं

ग़ज़लः 'एहसास पढ़ लिया कर'

प्रस्तावनाः

कुछ एहसास कहे नहीं जाते -उन्हें बस महसूस किया जाता है।
इस ग़ज़ल में मैंने अपनी खामोशी को अश्क़ों से लिखा है -यह एक प्रतीकात्मक चित्र है उस दुःख का जो बोलता नहीं - बल्कि बहता है।
एक मौन की ज़ुबान है, जिसे सिर्फ वो पढ़ सकता है, जो दिल से देखता हो।
हर शेर एक दस्तावेज़ है,
उन आवाज़ों का जो बोले बिना भी सुनाई देती हैं।

ये ग़ज़ल उन रिश्तों के लिए है जो कभी कह नहीं पाते,
उन चेहरों के लिए है जो मुस्कराते हुए भी उदास होते हैं,
उन दीवारों के लिए है जिनमें दरारें नहीं - इतिहास होता है।

ये तहरीर हमें सिखाती है:
"तू आवाज़ मत ढूँढ… बस एहसास पढ़ लिया कर।"

ग़ज़लः 'एहसास पढ़ लिया कर'

मैंने ख़ामोश लफ़्ज़ों को अश्क़ों से लिखा है
तू आवाज़ मत ढूँढ, बस एहसास पढ़ लिया कर

ये जो दीवारें चुप हैं, कोई सबब होगा
इन दरारों के पीछे भी इतिहास पढ़ लिया कर

हर मुस्कान के नीचे छुपा है इक मौसम
यूँ ही चेहरे पे ना जा, कुछ उदास पढ़ लिया कर

जो भी लफ़्ज़ों से बयाँ हो, वो पूरा सच नहीं होता
इन आँखों की खामोशी में उजास पढ़ लिया कर

हर सवाल की ज़ुबाँ नहीं होती दोस्त
कभी ख़ुद से भी ख़ामोश सवाल पढ़ लिया कर

वक़्त भी आइनों में किरदार देखता है
तू मेरे टूटे लम्हों में भी कमाल पढ़ लिया कर

गुम हुए लफ़्ज़ों के साए भी कुछ कहते हैं
तू हवाओं में बसी उनकी मिसाल पढ़ लिया कर

कुछ शिकायतें भी मोहब्बत की सूरत होती हैं
तू छुपे लहजे में उसका ख़याल पढ़ लिया कर

हमने सीखा है हर तन्हा सदा का मतलब
तू भी अब इन सन्नाटों का अहसास पढ़ लिया कर

वो जो रुसवा हुए, बेवजह तो नहीं थे कभी
तू दुआओं के साए में उनकी आस पढ़ लिया कर

कई बार ख़ामोशी भी इकरार होती है
तू इनकार की आदत से अल्फ़ाज़ पढ़ लिया कर

'शफ़क़' इस हिज्र में भी रौशनी बोता रहा है
तू जुदाई को उसकी मीठी प्यास पढ़ लिया कर

अश्क़ = आँसू, यहाँ रूह की नमी
रुसवा = बदनाम
उजास = मंद उजाला / रोशन एहसास
हिज्र = वियोग / जुदाई

ग़ज़लः 'रौशनी आती रही है'

प्रस्तावनाः

यह केवल एक आश्वासन नहीं, बल्कि एक अदृश्य प्रतिज्ञा है जो हर मनुष्य की रूह में जन्म से बैठी होती है। यह ग़ज़ल उस रौशनी की सिफ़ारिश करती है जो बाहर से नहीं, भीतर से उठती है - चाहे ज़माना बदल जाए, लोग टूट जाएँ, साजिशें थोप दी जाएँ या उम्र का दरिया चुपचाप बह निकले।

यह रचना हमें बताती है कि हर सहर, हर गिरावट, हर साज़िश के पीछे भी एक मौन रहमत मौजूद होती है, जो हमें संभालती है, सिखाती है, और हमारी रूह को मुस्कुराने का हुनर देती है।

यह ग़ज़ल उन लोगों के लिए है -
जो हारने के बाद भी उठते हैं, जो आँधियों में भी दीप जलाते हैं, और जो जान चुके हैं कि -ज़िंदगी सिर्फ़ जीने का नाम नहीं, बल्कि भीतर की रौशनी को ज़िंदा रखने का नाम है।

ग़ज़लः 'रौशनी आती रही है'

हर सहर इक नई राह दिखाती रही है
रात जितनी भी हो, रौशनी आती रही है

ख़्वाब टूटे हैं तो क्या, हौसले तो जिंदा हैं
ख़ाक बनकर भी चिंगारी जगाती रही है

दर्द जब लफ़्ज़ बने, साज़ सा कुछ छेड़ गया
इक ख़ामुशी भी रगों में उतरती रही है

जहाँ से टूटी थी साँसें, वहीं से फिज़ा उठी
ख़ुद ब-ख़ुद रहमतें दरमियाँ आती रही है

हम गुनाहों से भरे थे मगर फिर भी बचते रहे
इक दुआ दरगुज़र की जुबाँ लाती रही है

जिन चराग़ों ने बुझकर सिखाई थी तन्हाई
वो ही रौशनियाँ दिल में समाती रही है

हर सिकंदर को यहाँ मिट्टी होना पड़ा
ज़िन्दगी ये हक़ीक़त बताती रही है

जो गिरा है, वही फिर से संभलना जानता है
ज़िंदगी खुद उसे चलना सिखाती रही है

हमको मारा नहीं वक़्त की चालों ने कभी
दुआयें हर मोड़ पर यूँ ही बचाती रही है

साजिशें रची गईं, चोटें मिलीं सौ दफ़ा
पर रूह हर घात में भी मुस्कुराती रही है

उम्र का क्या है, वो तो बहता हुआ इक दरिया
हर लम्हा नसीहत की रवानी आती रही है

'शफ़क़', थाम ले अब इस उजाले का दामन
तेरे अंदर भी इक सुबह सोती रही है

सहर: भोर, नई शुरुआत का प्रतीक
चिंगारी: संघर्षशीलता की छोटी लेकिन अडिग चिंगारी
सदा: आवाज़ (यहाँ आत्मा की या रूह की फुसफुसाहट)
रवानी: प्रवाह, गति (यहाँ जीवन का बहाव)
घात: हमला, चोट या धोखा
दरगुज़र: क्षमा, रियायत

ग़ज़ल: 'नज़र का आईना'

प्रस्तावना:

"नज़र का आईना" एक ऐसी ग़ज़ल है जो देखने की क्रिया को इन्द्रिय अनुभव से उठाकर आत्मिक अनुभव में बदल देती है। यह रचना बताती है कि जो हम बाहर देखते हैं, वह दरअसल हमारे भीतर आँखों का प्रतिबिंब होता है।
अक्सर हम दुनिया को दोष देते हैं - बुराई, बदसूरती, धोखे, अँधेरा - लेकिन यह ग़ज़ल सलीके से पूछती है:
"क्या तुमने देखना सीखा है?"
यह शायरी एक अहंकारहीन दर्पण बन जाती है - जहाँ हर मंज़र, चाहे वो धूप हो या कोहरा, काँटा हो या फूल, किसी न किसी सच की परत खोलता है।
यहाँ "अँधेरा" भी केवल अंधकार नहीं है, बल्कि एक पाठशाला है - और "कोहरा" सिर्फ़ धुंध नहीं, एक आंतरिक संशय है जिसे केवल हौसला ही चीर सकता है।
यह 'ग़ज़ल बार-बार हमें उसी बिंदु तक ले जाती है जहाँ दृष्टि बदलने से पूरा वास्तविकता-बोध बदल जाता है। वह यह भी याद दिलाती है कि आईना टूटता नहीं, बल्कि दिखाना बंद कर देता है जब देखने वाला अपने ही पत्थरों से उसे चोट पहुँचाता है।
ग़ज़ल के हर शेर में एक रौशनी की हल्की रेखा है - जो तमाम भ्रमों के पार, सत्य की ओर ले जाती है।
यह ग़ज़ल नसीहत नहीं देती, बल्कि मौन की तरह धीरे से हमारी आँखें छूती है - और कहती है,
"देखो, देखना भी इबादत है..."

हर आइना आईना नहीं होता 'शफ़क़'
जब तलक नज़र में उजाले न हों

ग़ज़ल: 'नज़र का आईना'

अगर नज़र को सलीका हो देख पाने का
हर तरफ़ जन्नत के मंज़र नज़र आते हैं

जो दाग दिखते हैं आईनों की सतह पर
वो अपने दिल के ही पत्थर नज़र आते हैं

बुराइयाँ नहीं होतीं जहाँ भी हम जाएँ
कभी-कभी लोग भी बेहतर नज़र आते हैं

हवा की हर शरारत में इक पैग़ाम छुपा
ग़ुरूर छोड़ो तो शब्नम नज़र आते हैं

कभी तितलियों से पूछो बहार क्या होती
उन्हें तो काँटे भी बंसीर नज़र आते हैं

ये ज़िंदगी भी फ़क़त आईनों का खेल है
जिसे जो देखना हो, वो नज़र आते हैं

अँधेरा हो या घना कोहरा, सबक सिखाता है
हौसला हो जिसे, उसे रास्ते नज़र आते हैं

'शफ़क़' ने ढूँढ लिया है नज़र का आईना
अब हर तरफ़ उसे रहबर नज़र आते हैं

मंज़र: दृश्य, नज़ारा
पत्थर: यहाँ प्रतीक है पूर्वाग्रह या जड़ता का
शब्नम: ओस की बूँदें, यहाँ कोमल भावनाओं का प्रतीक
बंसीर: फूल की नर्म पंखुड़ी (संकेत रूप में प्रयुक्त)
रहबर: मार्गदर्शक, रास्ता दिखाने वाला
घना कोहरा: गहराया हुआ भ्रम

ग़ज़लः 'सदा की गूँज'

प्रस्तावनाः

हर सच्चा दर्द एक इबादत बन जाता है, हर ख़ामोशी एक दरगाह हो जाती है, और हर टूटा हुआ दिल - खुदा की सदा।

"सदा की गूँज" एक ऐसी ही रूह की पुकार है, जो लफ़्ज़ों में नहीं, लेकिन लम्हों में बोलती है। यह ग़ज़ल उन जज़्बातों का सफ़र है जिन्हें न कहा जा सका, न लिखा - सिर्फ़ जिया गया।

यह इश्क़ भी है और इबादत भी, यह शिकवा भी है और शुक्र भी। इसमें मौन है, मगर वो मौन जो अक्सर दीवानों की सूफ़ी रातों में जलता है - जैसे किसी वली की तस्बीह में एक अधूरी दुआ।

हर शेर में एक ख़ालीपन बोलता है, हर मिसरे में कोई दबी हुई रौशनी चमकती है।

यह ग़ज़ल उस सदा की खोज है जो ज़बानों से परे है - जो हवाओं में गूंजती है, सितारों से टकराती है और दिल के भीतर एक दरवेश की तरह बैठ जाती है।

यह पेशकश महज़ शेरों का सिलसिला नहीं - यह एक रूह की यात्रा है, जहाँ हर ग़म एक नग़मा है और हर आह - सज़दा।

ग़ज़लः 'सदा की गूँज'

जो फ़लक तक गूँजती है, वो सदा है मेरी,
ज़ेरे-ज़मीन अब कहाँ समझे सदा है मेरी।

मैंने लफ़्ज़ों को किया है चुप मगर आईना
हर ग़ज़ल में बोलती इक दास्ताँ है मेरी

वो जो बदले चुपके चुपके मौसमों की चाल को
जान ले वो भी, उसी में दास्ताँ है मेरी

चाँद पूछे रातभर, ये कौन है मौन-सी
तारों में जो गूँजती है वो सदा है मेरी

मैंने रिश्तों में कभी बाँधी नहीं ख़ामोशियाँ
जो सुने दिल से, वही समझे दुआ है मेरी

तू अगर ख़्वाबों से बाहर भी नज़र दौड़ा सके
हर तरफ़ मौजूद फिर भी क्यों सदा है मेरी

मैं जो टूटा तो दवाओं में न थी राहत कोई
मर्ज़ था जो लफ़्ज़ में - बस वो दवा है मेरी

तन्हा लम्हों में भी कुछ आवाज़-सी उठती रही
सन्नाटा जब बोले तो कहता- सदा है मेरी

मैंने आँसू से भी रिश्तों की अदब सीखी है
अब जो गिरते हैं, वही बनती सदा है मेरी

तेरी सोचों से उतरकर जो खयालों में रहे
वो न कोई ख़्वाब है, बस रौशना है मेरी

'शफ़क़' उस रूह का नाम है जो बोले ही नहीं
हर तसल्ली में मगर गूँजें सदा है मेरी

फ़लक: आसमान, आकाश, या गगन
ज़ेरे-ज़मीन - ज़मीन के नीचे, या प्रतीकात्मक रूप से – संकीर्ण सोच/स्थूल दृष्टि
सदा -आवाज़, पुकार
तसव्वुर - कल्पना, ध्यान
वफ़ा - निष्ठा, सच्चाई
रौशना - प्रकाश, उजाला
दास्ताँ - कहानी, कथा
तअल्लुक़ - संबंध

ग़ज़ल: 'तजल्ली-ए-रूह'

प्रस्तावना:

ग़ज़ल "तजल्ली-ए-रूह" एक सूफ़ियाना यात्रा है - उस रौशनी की ओर जो न आँखों से दिखती है, न लफ़्ज़ों से बयाँ होती है, बल्कि अंदर की फ़िक्र, सीरत, और तसब्बुर से जगमगाती है। यह ग़ज़ल हर उस दिल के लिए है जो तलाश में है: ईमान की, पहचान की, और उस बेख़ुदी की, जो रब के करीब ले जाती है।
यहाँ शेर सिर्फ़ अशआर नहीं, दुआएँ हैं, सजदे हैं, और ज़िक्र की साँसें हैं।
यह रचना रूह से शुरू होती है और रूह पर ही खत्म - जहाँ कोई दुआ, कोई भाषा, और कोई मज़हब अलग नहीं रह जाता।

ग़ज़ल का सार

यह ग़ज़ल बताती है कि जहाँ आत्मा में नूर है, वहाँ बाहरी अंधकार का कोई वजूद नहीं।
जहाँ इल्म और इंसानियत की लौ जलती है, वहाँ मज़हबों की दीवारें गिर जाती हैं।
सच्ची इबादत उस दिल से उठती है जो खामोशी में भी रब को पुकारता है।
"तजल्ली-ए-रूह" उन हर दिलों को समर्पित है -
जो कभी टूटे, झुके, मगर उठकर रौशनी बन गए।

ग़ज़ल: 'तजल्ली-ए-रूह'

जहाँ फ़िक्र हो रौशन और हो सीरत जवाँ
वहाँ हर साया भी बन जाए आफ़ताब की ज़ुबाँ

दिलों की गर्द उतरती है तसव्वुर के वुजूद से
जो देखे खुद को अंदर, वो पहचान बयाँ

जो सूफ़ी है, वो सन्नाटों से महफ़िल जोड़ता है
न आवाज़ चाहिए, न कोई और दास्ताँ

हवा की चाल भी पूछे, इबादत किस तरह की जाए
जहाँ हर लम्हा बंदगी हो, वहाँ क्या रीत, क्या रवाँ

मुझे ना पूछ मेरे सजदे किस क़िबले को थे
मैं जिस ओर झुका, वो बन गया मेरा आसमाँ

जहाँ जिक्र में मिट जाए खुदी की हर सदा
वहाँ इक नाम ही काफ़ी है सारा ग़ुरूर बयाँ

जिसे रब की महक चाहिए, वो दिल से ढूँढे
कभी फूलों में, कभी काँटों में, कभी अपने दरमियाँ

न था कोई मक़सद सजदों की गिनती का वहाँ
जहाँ आँसू ही बन जाते हैं रूह की अज़ाँ

ख़मोशी भी वज़ू करती है जब दिल पाक हो
हर साँस से उठता है तब तस्बीह का कारवाँ

जो जल जाए फ़ना में, वही पा ले बक़ा की राह
रहें वो लोग महफ़ूज़ जो हो जाएँ फ़ना यहाँ

"शफ़क़" के लफ़्ज़ बुझते हैं रौशनी के बाद भी
कभी जो जल चुका दिल से, वो बन जाता है दियाँ

फ़िक्र: चिंतन, सोच की गहराई
सीरत: आंतरिक चरित्र, स्वभाव
आफ़ताब: सूर्य, रौशनी का प्रतीक
तसव्वुर: ध्यान, कल्पना में डूबना
हिजाब: परदा, जो रूह और हक़ीक़त के बीच हो
मिज़ाज-ए-इश्क़: इश्क़ का स्वभाव, भाव
सन्नाटों की महफ़िल: ध्यान और रूहानी तन्हाई की स्थिति
बंदगी: इबादत, भक्ति
क़िबला: इबादत की दिशा (आध्यात्मिक रूप से पथदर्शक)
फ़ना-बक़ा: मिट जाना (फ़ना) और फिर शाश्वत हो जाना (बक़ा)
तजल्ली: रूहानी रौशनी या दैवीय प्रकाश

ग़ज़लः 'जो अधूरा था कभी...'

प्रस्तावना:

कुछ आवाज़ें वापस लौटती हैं - उन्हें सुना नहीं जाता, बल्कि भीतर महसूस किया जाता है। कुछ सफ़र ऐसे होते हैं जिन्हें कभी मंज़िल के लिए तय नहीं किया गया था, बस इसीलिए कि वे रास्ते में ही कुछ अधूरा छोड़ आए थे।

यह ग़ज़ल एक आत्मा की उसी वापसी की कथा है - जो रेगिस्तानों में अपना नाम छोड़ आई, जंगलों में अपनी आवाज़, और सांसों में एक अधूरी कहानी। यह लौटना किसी नई शुरुआत का एलान नहीं है - बल्कि उस अधूरे वादे की तक़मील है, जो वक़्त से नहीं, रूह से किया गया था।

ये ग़ज़ल रेत, सन्नाटे और स्मृति की रूहानी धड़कनों से बुनी गई है - जहाँ हर शेर एक दस्तक है, और हर साँस एक गवाही।

ग़ज़लः 'जो अधूरा था कभी...'

हवा से बुना इक सदा का सफ़र था
न कोई ठिकाना, न कोई बसर था

वो रेतें कि जिनमें सभी नाम गुम थे
मैं ख़ुद को ही ढूँढूँ - यही इक हुनर था

न आवाज़ थी, सिर्फ़ साँसों की दस्तक
वो जंगल भी मुझमें कहीं मुख़्तसर था

मैं लम्हों को बस याद करने चला था
ये लौटन मगर एक गहरी नज़र था

न जीने की ख्वाहिश, न मरने का रिश्ता
मैं था - और बस इक अधूरा सफ़र था

जो लफ़्ज़ों में बँधकर न पूरा हुआ था
वो वादा ही जैसे मेरा हमसफ़र था

कहाँ लौटना था कोई आग़ाज़ करने
मैं टूटा हुआ इक पुराना असर था

‘शफ़क़’ पूछ मत किसलिए लौट आया
जो अधूरा था कभी - वही दर-ब-दर था

तक़मील: पूरा होना, समाप्ति, पूर्णता, या समापन
हवा से बुना: स्मृति या अनुभूति का प्रतीक
बसर: गुज़ारा करना
बयाबान: वीरान, निर्जन
मुख़्तसर: संक्षिप्त, थोड़े में समाया हुआ
दस्तक: खटखटाहट - यहाँ से प्रतीकात्मक रूप से आत्मा की पुकार
असर: प्रभाव, छाप
दर-ब-दर: भटकाव, यायावरी, अधूरी खोज का प्रतीक
सदा: पुकार, आवाज़
आग़ाज़: शुरुआत

ग़ज़ल: 'ख़ुद से बात कर ...'

प्रस्तावना:

"ख़ुद से बात कर ..." एक ग़ज़ल नहीं, बल्कि वो रूहानी दस्तक है जो तब सुनाई देती है जब सारा जहान ख़ामोश हो जाता है और इंसान को अपने ही साये की आवाज़ सुनाई देने लगती है।

यह ग़ज़ल, आत्मसंघर्ष की उस गुफ़ा में जलते दीये जैसी है - जो बाहर की धूप-छाँव से नहीं, बल्कि भीतर के भरोसे से रौशन होती है। इसमें हार की सिसकियाँ भी हैं, पर वो शिकस्तें भी हैं जो हर मोड़ पर इंसान को गढ़ती हैं। यह एक सफ़र है - अंधेरे से उजाले तक, तन्हाई से दुआ तक, और टूटन से ताक़त तक।

यह ग़ज़ल हमें याद दिलाती है कि साया तब तक साथ है जब तक हम खुद को छोड़ते नहीं
और जब हम अपने सबसे मुश्किल वक़्त में ख़ुद से बात करना सीख जाते हैं, तब कोई रोशनी दूर से नहीं - अपने अंदर से चल पड़ती है... "ख़ुद से बात कर ..."

ग़ज़ल: 'ख़ुद से बात कर ...'

मुश्किलों में गर तू फँस जाये कभी
ख़ुद से बात कर, साया बन जाये वही

रात गहरी हो तो पलकों पे ख़्वाब रख
नींद टूटे तो निखरती है सहर भी

जो नहीं रोया अंधेरों में कभी
रौशनी में भी मिला तन्हा वही

हर शिकस्त अपनी कहानी कहती है
जीत भी सुनती है दिल की बात सभी

ज़ख़्म गर भरता नहीं, शिकवा न कर
दर्द को भी रख सलीक़े से कभी

लोग बिछड़ें तो ये समझ लेना तू
हर मुसाफ़िर लौट आता है कभी

तेरा रस्ता रोक दे गर ये जहाँ
चल पड़ेगी रौशनी तेरे साथ भी

इम्तिहाँ हर मोड़ पर आए अगर
इम्तिहाँ में ही छुपा है दम अभी

'शफ़क़' तन्हा रह गया तो क्या हुआ
रूह से उठती रही इक दुआ अभी

ग़ज़ल: 'वक़्त की हसरत'

प्रस्तावना:

यह ग़ज़ल ज़िंदगी की नश्वरता और इंसानी ख्वाहिशों के बीच की कश्मकश को उर्दू के नफ़ीस लफ़्ज़ों में पिरोती है। यह उन पलों की बात करती है, जब इंसान अपनी तमन्नाओं, संकल्पों, और आशाओं के बोझ तले प्राथमिकताएँ तय करने को मजबूर होता है। समय की सीमित रेत पर लिखे नक्श की तरह, यह ग़ज़ल याद दिलाती है कि ज़िंदगी का हर लम्हा कीमती है, और हर कदम पर सोच-समझकर चलना ज़रूरी है। वसीयत, मक़सद, और सच्चे ख्वाबों की तलाश को यह ग़ज़ल एक दर्पण की तरह पेश करती है, जो हमें अपने दिल की आवाज़ सुनने और ज़िंदगी को अर्थपूर्ण बनाने की प्रेरणा देती है।

ग़ज़ल: 'वक़्त की हसरत'

ज़िंदगी इक सैर है, लम्हों का मेला है कम
ख्वाहिशें बेशुमार हैं, मगर वक़्त थमता है कम

हर कदम पे सोच ले, क्या है ज़रूरी अभी
दिल की राहों में बिछा, हसरतों का सायब है कम

आशाओं का दीया, जलता रहे हर घड़ी
शाम ढलने से पहले, रौशनी बस्ता है कम

संकल्प जो बाँध लिया, उसे पूरा तो कर
वक़्त की रेत पे नक्श, बन सके रस्ता है कम

वसीयत भी इक ख्वाहिश, जो अधूरी न रहे
ज़िंदगी की किताब में, लिख सका पन्ना है कम

दौड़ में खो न दे तू, अपने मक़सद को कहीं
दिल की आवाज़ सुन ले, वक़्त का सौदा है कम

हर सांस में बस्ती है, इक नई तमन्ना मगर
जो सदा सच बने वो, ख्वाब का रंगत है कम

ज़िंदगी इक सैर है 'शफ़क़'लम्हों का मेला है कम
ख्वाहिशें बेशुमार हैं, मगर वक़्त थमता है कम

सायब: छाया, परछाई
रौशनी बस्ता: रौशनी बसाना

ग़ज़लः 'ज़िंदगी'

प्रस्तावना:

ज़िंदगी-जिसे अक्सर हम साँसों, लम्हों या वक्त के पैमाने में तौलते है-दरअसल एक सूफ़ियाना सफ़र है। यह ग़ज़ल उसी ज़िंदगी का रूहानी बयान है, जिसमें हर सज़ा में एक परवाज़ छुपी है, हर ग़म एक सदा है रौशनी की ओर।
इस ग़ज़ल में ज़िंदगी को न केवल एक जद्दोजहद के रूप में देखा है, बल्कि उसे एक तख़्लीकी अमल, एक खुदा की रहमत, और एक आत्मिक उड़ान की शक्ल में महसूस किया है।

यह ग़ज़ल ज़िंदगी, मौत, प्रेम, और सत्य की गहराइयों को उर्दू शायरी की नफ़ासत के साथ बयान करती है। इसमें ज़िंदगी को एक रहमत और हर मुश्किल में छुपी उड़ान के रूप में देखा गया है। ग़ज़ल में ज़िंदगी और मौत को दो मंज़िलों के रूप में प्रस्तुत किया है, जिसमें ईश्वर का राज़ छुपा है। सत्य की ताकत, प्रेम की रौशनी, और आत्म-चिंतन के ज़रिए इंसान की आध्यात्मिक यात्रा को उकेरा गया है। ग़ज़ल का हर शेर ज़िंदगी के अलग-अलग रंगों को दर्शाता है, जो इंसान को आत्ममंथन और सकारात्मकता की ओर ले जाता है।

यह ग़ज़ल सच्चाई और झूठ की परख करती है, रिश्तों की दरारों में नई गर्मी तलाशती है, और अंततः उस 'एक' रौशनी की ओर इशारा करती है जो हर दिल-ए-ज़िंदा में मौजूद है। मक़ता में एक रूहानी विसर्जन है - 'शफ़क़' जो खुद को तख़्लीक़-ए-नूर में रच चुका है, अब फ़ना से परे है।
यह ग़ज़ल उन सभी पाठकों के लिए एक दावत है - जो अपने अंदर की रौशनी से मिलना चाहते हैं।

ग़ज़लः 'ज़िंदगी'

ज़िंदगी एक रहमत-ए-नग़्मा-ए-नवाज़ है
हर सजा में छुपी कोई उड़ान-ए-परवाज़ है

हर तरफ़ से जुड़ा हूँ मैं बे-निहां सा
अब तो हर शख़्स में मेरा ही अंदाज़ है

ज़िंदगी-मौत, दो ही राह-ए-मंज़िलें
और दोनों के बीच बस उस का ही राज़ है

सच वही जो दिल-ए-जाँ से बयां हो
झूठ में कब रहा कोई भी नाज़ है

ज़िंदगी कह रही: चल, रौशनी की सैर कर
हर सिम्त रौशनी की बस सदा-ए-आवाज़ है

जिनके बाइस थे कभी फ़ासले-दरमियाँ
अब वही सब पे मेरे दिल के हमराज़ हैं
न फ़साना, न कोई चश्म-ए-बे-मिसाल अब
हर दिल-ए-ज़िंदा में बस एक आवाज है

आईना देख कर तू हँस दे ऐ दोस्त
ये तेरा अक्स, तेरी ही उड़ान-ए-परवाज़ है

'शफ़क़' जो रच गया तख़्लीक़-ए-नूर में
वो कभी न होगा फना, उसकी आज़ है

रहमत-ए-नग़मा-ए-नवाज़: रहमत (कृपा), नग़मा (गीत), नवाज़ (सम्मानित करने वाला) कृपा का मधुर गीत
उड़ान-ए-परवाज़: परवाज़ (उड़ान) — ऊँची उड़ान, आध्यात्मिक या भावनात्मक उन्नति।
बे-निहां: असीम, अनंत
राह-ए-मंज़िलें: मंज़िलों का रास्ता दिल-ए-जाँ: दिल और आत्मा
सिम्त: दिशा
सदा-ए-आवाज़: आवाज़ की गूँज बाइस: कारण
फ़ासले-दरमियाँ: बीच के फासले, दूरी
चश्म-ए-बे-मिसाल: अनुपम दृश्य, चमत्कार।
तख़्लीक़-ए-नूर: प्रकाश की रचना।
आज़: स्वतंत्रता, अमरता।

ग़ज़लः 'ख़ामोशी का हुनर'

प्रस्तावनाः

'ख़ामोशी का हुनर' एक ऐसी ग़ज़ल है जो ख़ामोशी की ताकत और सत्य की चुनौतियों को गहरे काव्यात्मक अंदाज़ में प्रस्तुत करती है। यह आधुनिक समाज में सच बोलने की कीमत, चुप रहने की मजबूरी, और साहस की पुकार को उजागर करती है। इस रचना में सामाजिक विडंबनाओं को प्रतीकों और भावों के माध्यम से व्यक्त किया है, जो पाठक को सोचने और सत्य के लिए आवाज़ उठाने को प्रेरित करता है। नए शेर इस ग़ज़ल को और समृद्ध करते हैं, जिसमें प्रतीकात्मकता और भावनात्मक गहराई को बढ़ाया गया है।

ग़ज़लः 'ख़ामोशी का हुनर'

अब तो ख़ामोशी ही आवाज़ बन गई
सच कहो तो गूंजती है चुप कहीं

सच की राहों में बिछे हैं काँटे सख़्त
बोलने की हिम्मत जुटा ले तू कभी

अब सवालों से भी डरने लगे हैं लोग
सच की बातें सुनें कैसे अभी

ज़ुल्म की आँधी में बुझते दीप हैं
रोशनी की बात करे वो कौन अभी

लफ़्ज़ जब सच हों, तो कांपें तख़्त-ओ-ताज
बोलना बग़ावतों जैसा हुआ कभी
तेरा सुकूत भी गुनाह ठहरा मगर
भीड़ ने तय कर दिए हैं सब रुख़ अभी

सच की तलवारें हैं होंठों पे सधी
काटती हैं जो नज़र की ज़ंजीर कभी

ख़ामोशी के साये में छुपा है ज्वाल
उठ के सच बोलेगा ये दिल फिर अभी

ज़िंदगी की राह में है बस धुंध अभी
सच का सूरज चमकेगा ज़रूर कभी

हौसले की आग जलती है जिगर में
ख़ामोश रहकर भी जलेगा दीप अभी

इख़्तलाफ़ों से न मतला ढूँढ अब
जुर्म है जो सोच ले हक़ की बात भी

'शफ़क़' तू सच बोलने से डर नहीं
तेरे लफ़्ज़ों में दबी है रौशनी अभी

सुकूत: ख़ामोशी, चुप रहना
: मतभेद, असहमति
ज्वाल: ज्वाला, आग

ग़ज़ल: 'सच की रौशनी'

प्रस्तावना:

यह ग़ज़ल एक आध्यात्मिक यात्रा है - जो झूठ के मुखौटे उतारकर, रूह की सच्चाई तक पहुँचती है।
हर शेर एक अनुभव है, हर मिसरा एक दरवाज़ा है - जो पाठक को उसके अपने अंदर की गहराइयों से जोड़ता है।
इसमें मोहब्बत भी है, बर्दाश्त भी; टूटना भी है और फिर जुड़कर चमकना भी।
ये शायरी यहाँ केवल बयान नहीं, बल्कि एक सत्य का उजाला है - जो दिल और जान के दरमियाँ बहती है।
यह ग़ज़ल उन लोगों के लिए है
जो सच की तलाश में अँधेरों से गुज़रते हैं - और रौशनी बन जाते हैं।

ग़ज़ल: 'सच की रौशनी'

हर नज़र में छुपा कोई आग़ाज़ है
हर ख़मोशी में इक दास्ताँ-ए-राज़ है

ज़िंदगी एक रूह की दुआ बन गई
हर गिरा आँसूँ अब पाक नमाज़ है

जो भी टूटा, वही तो फिर बन गया
जो भी बिखरा, वही सबसे हमराज़ है

राह-ए-दिल पर जो थक के बैठा कभी
वो ही आख़िर में सबसे सरफराज़ है

हर उजाले के पीछे साया मिला
हर अँधेरे में कोई हमनवाज़ है

जिसने बर्दाश्त सीखी मोहब्बत से ही
वो ही सबसे अज़ीज़ और ना-नियाज़ है

रंग-ए-हक़ में न चमक हो तो क्या हो
रंग तो वो है जो दिल का अंदाज़ है

इश्क़ ने जब भी पूछा मिरी हस्ती से
मैंने रूहों से कहा - बस वही साज़ है

तेरा चेहरा किताब-ए-सुब्ह की तरह
जिसमें हर पन्ना रौशनी का साज है

सच वही जो दिल-ए-जाँ से छलके
झूठ के पास 'शफ़क़' क्या कोई नाज़ है

आग़ाज़: शुरुआत, दास्ताँ-ए-राज़: रहस्य से भरी कहानी, पाक नमाज़: पवित्र प्रार्थना
सरफराज़: सम्मानित, सफल, ऊँचा हुआ, हमनवाज़: संगत देने वाला, दर्द बाँटने वाला
ना-नियाज़: जो दुनियावी इच्छाओं से परे हो, रंग-ए-हक़: सत्य का रंग, सच्चाई का प्रभाव
साज़: राग, संगीत, आत्मा का कंपन, किताब-ए-सुब्ह: सुबह की किताब - प्रतीक रूप में नई शुरुआत की रचना

ग़ज़ल: 'शम्अ-ए-उम्मीद'

(उम्मीद का दिया)

प्रस्तावना:

हर शख़्स की रूह में एक शम्अ-ए-उम्मीद जलती है - कभी तेज़, कभी मद्धम, मगर बुझती नहीं। यह दीया वह नहीं जो हवा से डरता हो, बल्कि वह जो तूफ़ानों में भी टिमटिमा कर जीने की वजह देता है।
जब ज़िंदगी के रास्ते धुँधले हो जाएँ और दिल सवालों से भर जाए - तब भीतर से उठती ये रौशनी कहती है: "सब कुछ ठीक होगा... थोड़ा सब्र, थोड़ा यक़ीं।"
यह ग़ज़ल उसी उजास को सलाम है, उसी शम्अ-ए-उम्मीद को जो हर अंधेरे में साथ निभाती है।

ग़ज़ल: 'शम्अ-ए-उम्मीद'

जो अंधेरों में भी रौशन हुआ करता है
वो दिलों में कहीं उम्मीद जगाया करता है

थक के बैठा भी हूँ मगर ये यक़ीं है मुझे
कोई रस्ता मेरी जानिब भी चला करता है

वक़्त जितना भी सख़्त हो, कट ही जाता है
एक चुप सा दिया हर रात जला करता है

आँधियाँ लाख हों, तूफ़ाँ भी हों दर-पे मगर
एक जुगनू मेरे सीने में तन्हा चमका करता है

ग़म की तपिश में भी बर्फ़ सी ठंडक दे दे
ऐसी इक बात कहीं दिल से कहा करता है

कुछ भी बाक़ी नहीं जब लगे चारों तरफ़
तब यक़ीं को ये लौ फिर रोशन करता है

चल ‘शफ़क़’, और न मायूस हो यूँ हालातों से
तेरी रूह में तो इम्कान रहा करता है

जानिब: ओर, दिशा
यक़ीं: विश्वास
जुगनू: चमकता कीट, आशा का प्रतीक
तपिश: पीड़ा की गरमी
इम्कान: संभावना, potential

ग़ज़ल: 'बदलाव की रोशनी'

प्रस्तावना:

"खुद में वह बदलाव लाइए जो आप दुनिया में देखना चाहते हैं" - में गांधीजी की आत्म-दिशा और समाज-परिवर्तन की वह चुप मगर गूँजती हुई आवाज़ है। इसी भाव को लेकर एक ग़ज़ल अर्ज़ है।

यह ग़ज़ल आत्म-परिवर्तन की उस भावना से जन्मी है जहाँ हम दुनिया को सँवारने की चाह में सबसे पहले अपने भीतर झाँकते हैं। यह रचना केवल एक नैतिक उपदेश नहीं, बल्कि आत्म-प्रेरणा का उजास है जो यह बताती है कि दुनिया में जो भी कमी, अंधेरा या ठहराव है - उसका समाधान खुद के भीतर की रौशनी से शुरू होता है।

यह ग़ज़ल आत्म-जागरण, ईमानदारी, रिश्तों में वफ़ा, सच्चाई की राह और व्यक्तिगत ज़िम्मेदारी को सहज किंतु प्रभावी लफ़्ज़ों में पिरोती है। यह नसीहत नहीं देती, बल्कि दर्पण बनकर सामने खड़ी होती है - कि जो बदलाव हम बाहर चाहते हैं, वह हमें भीतर से ही शुरू करना होगा।

ग़ज़ल: 'बदलाव की रोशनी'

बदलाव की रोशनी खुद से जलाइए
बस खुद में एक चराग़ अब जलाइए

कमी अगर दुनिया में कोई नज़र आए
पहले उसे अपने ख़ुद से मिटाइए

शिकवे जो औरों की आदत पे हैं तुझको
ज़रा सी ख़ुद की नब्ज़ भी तो टटोलिए

आईना बन जाओ उजालों के दरमियाँ
सच को चेहरे में साफ़ ही दिखाइए

हर रिश्ता तभी तो बहेगा बहारों सा दिल से
जब मौसम-ए-वफ़ा आप सजाइए

अंधेरों में डूबी निगाहों को रोशनी दे
ख़ुद की किरण से नया रास्ता बनाइए

भीड़ से डरता नहीं जो भी राही है
सच की राह हो - बस उस पर चलाइए

हर गूँज के पीछे कुछ बात होती है
सामने वालों को यूँ न परखिए

जो दिल में हो सायों का डर, उसे छुड़ाओ
ख़ुद की हिम्मत से हर राह को सजाइए

'शफ़क़' जो तन्हा भी उठे तो हो उजाला
इसी यक़ीं से हर साया मिटाइए

नब्ज़: नाड़ी, संकेत (यहाँ आत्म-समझ का प्रतीक)
आईना: दर्पण, प्रतीक है आत्मदर्शन का
मौसम-ए-वफ़ा: वफ़ा का मौसम, प्रतीक है विश्वास और स्नेह का वातावरण

ग़ज़ल: ‘उम्र की ख़ामोश ख़्वाहिशें’

प्रस्तावना:

ज़िंदगी के शुरुआती सालों में हम बड़े सुखों के पीछे भागते हैं - कामयाबी, शोहरत, रिश्तों का विस्तार। लेकिन जैसे-जैसे उम्र की सांझ उतरती है, ये बड़े सुख छोटी-छोटी सुविधाओं की सादगी में ढल जाते हैं। वहाँ जहाँ ना कोई हंगामा होता है, ना कोई माँग - सिर्फ़ एक धीमा, विनम्र, आत्म-निर्भर जीने की ख्वाहिश।

इस ग़ज़ल ‘उम्र की ख़ामोश ख़्वाहिशें’में उम्रदराज़ी की वही मौन कामनाएँ बुन दी गई हैं - जैसे सुई में धागा डाल सकना, वक़्त पर दवाएँ याद रखना, अपनी चाय ख़ुद बना सकना, अपने कपड़े तह कर सकना... और इन सबसे बढ़कर, किसी पर बोझ न बनकर अपनी छोटी-सी दुनिया में ख़ुद को सहेज कर जी सकना।

यह ग़ज़ल शोर से दूर एक ऐसी दुआ है जो किसी दरगाह या मंदिर में नहीं, बल्कि हर उम्रदराज़ इंसान की आँखों की नमी और होंठों की चुप में कही जाती है। इसमें शिकायत नहीं, इल्तिजा है; इसमें निर्भरता नहीं, आत्म-सम्मान की गूंज है।

मेरी कलम ने यहाँ सिर्फ़ अशआर नहीं कहे - उन तमाम बुज़ुर्ग दिलों की बेआवाज़ आवाज़ को रेखांकित किया है, जो अक्सर हमारी तेज़ भागती दुनिया में अनसुनी रह जाती है।

यह ग़ज़ल एक एहतराम है उन हर रोज़ घटते जा रहे स्वावलम्बी पलों का -और एक ख़ामोश दुआ कि ‘बचा रहे ये सुख़न, बाक़ी जो भी हो सो हो बस...’

ग़ज़ल: ‘उम्र की ख़ामोश ख़्वाहिशें’

बड़ों की उम्र में कुछ आरज़ू छोटी भी होती है
दुआ आँखों की, रौशन सूई की नोक़ सी होती है

सुई में धागा पिरोने की रौशनी हो बस
नज़र में देर तलक इक नमी-सी नहीं हो बस

दवाओं वक़्त पे लेने की याद बाक़ी हो
ज़ेहन में कोई भी गर्द-ए-फ़रामोशी न हो बस

क़दम उठा सकूँ ख़ुद से कहीं भी जाने को
किसी की रहनुमाई की कभी ज़रूरत न हो बस

बना सकूँ मैं अकेला ही अपनी चाय अगर
किचन में हाथों से गर गर्म ख़ुशबू सी हो बस

कपड़े तह कर सकूँ, चीज़ें समेट लूँ ख़ुद ही
ये आरज़ू है के खुद पर भरोसा बना हो बस

बेटियाँ, बेटे सभी अपनी राहों में मस्त रहें
मेरे दिल में सदा उनकी ख़ुशी बसी हो बस

दराज़ियों में जो यादें रखी थीं उम्रभर
उन्हें पलट सकूँ ऐसे के कोई कमी न हो बस

सुबह की सैर में साँसों का साथ बना रहे
कदम न डगमगाएँ, बस यही सदा हो बस

पुरानी तस्वीरों को फिर से देख सकूँ कभी
कि दिल में यादों का इक मेला सजा हो बस

खिड़की से झाँकती चाँदनी रात में आए
मेरे आँगन में उसकी सदा छाँव हो बस

नज़र उठे तो बगीचे में फूल मुस्काएँ
मेरे हिस्से की हरियाली सजीली हो बस

अकेलेपन में भी दिल की बात कह सकूँ
मेरी ख़ामोशी में इक गीत बजा हो बस

नई सदी की रफ़्तार से थोड़ा दूर रहूँ
मेरी दुनिया में सुकून की सैर हो बस

बच्चों की शरारतों पे हँस सकूँ मैं अभी
मेरे चेहरे पे झुर्रियों में कोई रंग हो बस

रब से बस यही माँगूँ मैं हर साँझ-ओ-सेहर
कि दिल में शांति का इक आलम सदा हो बस

दिल से हर ग़लती को मैं माफ़ कर सकूँ अब
मेरे मन में बस क्षमा का दरिया बहे हो बस

'शफ़क़' अब और क्या माँगूँ मैं इस ज़माने से
बचा रहे ये सुख़न, बाक़ी जो भी हो सो हो बस

सुख़न - काव्य, शब्दों का संसार, गर्द-ए-फ़रामोशी - भूलने की धूल, रहनुमाई - मार्गदर्शन, दराज़ियाँ - दराज़ें; संदर्भ में: स्मृतियों की तहें

ग़ज़ल: ‘जो छूट गए…’

प्रस्तावना:

“जो छूट गए…”- यह ग़ज़ल जीवन के उस पड़ाव की मौन रुदाली है जहाँ मुस्कुराते चेहरे, साझा क़िस्से, और आत्मीय स्पर्श एक-एक कर रेत से फिसलते जाते हैं। उम्र जब संध्या को छूने लगती है, तब सबसे भारी बोझ उन नामों का होता है जो अब केवल तस्वीरों में मुस्कुराते हैं या दिल की तहों में अश्क़ बनकर उतरते हैं।
इस ग़ज़ल में शायर न सिर्फ़ अपने अज़ीज़ों को याद करते हैं, बल्कि रूह की उस गहराई तक जाते हैं जहाँ हर रुख़सत एक ख़ामोश सबक़ बनकर ठहर जाती है।
यह रचना बिछड़े रिश्तों को सिर्फ़ रोती नहीं - उन्हें शिद्दत से जीती है, याद करती है, और आख़िर में ख़ुदा जाने का रास्ता भी पहचानती है।

ग़ज़ल: ‘जो छूट गए…’

हर इक शाम कोई याद दिला जाता है
वो जो रूह में बस के चला जाता है

जिन्हें साथ पाया था हर मोड़ पर कभी
उसे कभी तसव्वुर में ही मिला जाता है

नहीं नाम आता है अब चिट्ठियों में
मगर दिल उनका हर्फ़ पढ़ा जाता है

कभी हँसी के क़िस्से, कभी अश्क़ों की बात
गुज़िश्ता ज़माना बहुत भा जाता है
उम्र की शाम में रुख़सत का मौसम है
हर मुसाफ़िर चुपचाप चला जाता है

किसे कहें अब दिल की उदासी का सबब
वो जो अपने थे, एक-एक जा रहा है

अब नहीं रहते महफ़िलों के वो रंग
हर चेहरा इक साया बना जाता है

कभी ख़ुद से भी इक फ़ासला हो गया है
वो जो आइना था, अब छला जाता है

जो दुआओं में हर वक़्त शामिल थे कभी
अब ज़िक्र भी उनका बचा जाता है

वो जो मेरे ख़तों में मुस्कान थे कभी
अब हर सतर में धुआँ लिखा जाता है

'शफ़क़' उस सफ़र में अकेले हैं अब
जहाँ हर कोई बस ख़ामोश ठहर जाता है

रूह: आत्मा, अंतरात्मा
सिला: बदला, परिणाम; यहाँ 'ख़्वाब बन जाना' के रूप में
हर्फ़: अक्षर, शब्द
गुज़िश्ता: बीता हुआ, गुज़रा हुआ
रुख़सत: विदाई, बिदाई
धुआँ: यहाँ रूपक: स्मृति की धुंध सतर: : पंक्तियाँ, लेख की लाइनें

ग़ज़ल: 'ख़ामोशी की तहें'

प्रस्तावना:

इस ग़ज़ल में एक ऐसा भाव-चक्र है जो न केवल व्यक्तियों की आपसी संवादहीनता को उजागर करता है, बल्कि आधुनिक जीवन की उस भीतरगूँ हलचल को भी रूप देता है जो चेहरों के पीछे, ख़ामोशियों में, और रिश्तों के साए में छिपी रहती है।
यह रचना किसी एक व्यक्ति को संबोधित नहीं, बल्कि सभी इंसानों के भीतर की उस बेचैनी का बयान है - जहाँ हम रोज़ कुछ छुपाते हैं, कुछ सहते हैं, और फिर भी "सब ठीक है" का मुखौटा पहनकर जीते जाते हैं।
ग़ज़ल में हर शेर एक झरोखा है -कभी रिश्तों की साज़िशों की परत खोलता है, कभी तन्हाई के डर की दस्तक सुनाता है, कभी सुकून के पीछे छिपी हलचल पर सवाल करता है।
ग़ज़ल का मक़ता इस पूरे भाव-संसार को समेटता है - जहाँ आत्मा की गहराइयों तक पहुँचने की राहें अब आसान नहीं रहीं। हर रिश्ता, हर भावना अब दूरी में लिपटी हुई है - ख़ामोश तहों की तरह।

ग़ज़ल: 'ख़ामोशी की तहें'

हर चेहरे पे हँसी है, मगर कुछ तो है छिपा
हर ज़ुबाँ अब चुप है, जैसे राज़ों की तरह

हर रौशनी पे शक़ हुआ, बीते उजालों से
हर चमक लगती है अब कुछ साज़िशों की तरह

तन्हाई भी मिलने से कतराने लगी है अब
जैसे डरती हो किसी छुपे सवालों की तरह

आँखें नम हों तो भी सब कुछ ठीक लगता है
ज़िंदगी जी रही है बस नक़ाबों की तरह

सुकून के साए भी अब उलझन में बदलते हैं
जैसे हर ख़ामोशी छिपी हो ख़बरों की तरह

जब दिल में चुपचाप उतरता हो कोई ज़हर
लबों की ख़ामोशी लगती है तोहमतों की तरह

हर बात में अब बचाव-सा महसूस होता है
जैसे दर्द दबा हो किसी वज़्नों की तरह

‘शफ़क़’ रूह तक पहुँचने के रस्ते अब उलझे हैं
हर रिश्ता बिछड़ गया है फ़ासलों की तरह

ग़ज़ल: 'रूह की ख़ुशबू'

प्रस्तावना:

कुछ रिश्ते वक़्त से नहीं मिटते - वो हवा की तरह, ख़ुशबू की तरह, हर कोने में बिखरे रहते हैं। उनकी मौजूदगी को छू पाना तो मुमकिन नहीं, मगर महसूस न कर पाना भी नामुमकिन होता है।
ये ग़ज़ल ऐसे ही किसी अज़ीज़ की याद में है - जो अब दिखाई नहीं देते, पर मौजूद हैं।
हर ख़ामोशी में उनका नाम है, हर सन्नाटे में उनका पैग़ाम।
यह कविता बिछोह की शोकगाथा नहीं, बल्कि यादों की महकती उपस्थिति है- जहाँ रूह की ख़ुशबू हर साँस में ताज़ा बनी रहती है।यह रचना भावनाओं की महीन परतों को संवेदनशीलता से छूती है, जहाँ हर शेर में प्रिय की स्मृति एक ख़ुशबू की तरह बिखरती है- कभी हवाओं में, कभी साँसों में, तो कभी दिल की गहराइयों में। यह ग़ज़ल प्रेम, विरह, और उस अनकहे एहसास को समेटती है, जो किसी के चले जाने के बाद भी रूह में बस्ता है। यह एक ऐसी ग़ज़ल है, जो तन्हाई और यादों के बीच बुनते हुए एक प्रिय की अनुपस्थिति में भी उनकी सतत मौजूदगी को उकेरती है। रौशनी, चाँदनी, और सायों की इमेजरी के ज़रिए यह रचना पाठक को एक ऐसी दुनिया में ले जाती है, जहाँ चुप्पियाँ भी बोलती हैं और खामोशियाँ महकती हैं। यह ग़ज़ल न केवल दिल को छूती है, बल्कि हर उस शख़्स को अपनी बात कहती है, जो किसी की याद में खोया हुआ है।

ग़ज़ल: 'रूह की ख़ुशबू'

तन्हा नहीं हूँ फिर भी तन्हाई का आलम है
हर साया चुप है, फिर भी दिल में इक रागिनी बसती है

खिड़की से आती रौशनी भी पूछती है मुझसे
उसकी निशानी क्यूँ इन दीवारों पे सदा ठहरी है

कोई नहीं जो बोले अब लफ़्ज़ों की तरह मुझसे
फिर भी हवाओं में उसकी बातों की महक बसती है

आहट नहीं, न कोई दस्तक, फिर भी लगे अक्सर
कोई यहाँ से चल के दिल की गहराई तक जा पहुँचा है

वो बात-बात में जो मुस्कुराते थे फूलों की तरह
अब चुप्पियों में भी उनकी इक ख़ुशबू ठहर जाती है

छूते नहीं वो अब, न ही आवाज़ देते हैं कभी
मगर हर साँस में जैसे वो दिल की राहों में होती है

ख़ामोश रातों में भी उनकी बातें गूँजती हैं
जैसे चाँदनी में बिखरी कोई सदा-सी ख़ुशबू है

हर धड़कन में बस उनकी यादों का मंज़र बाक़ी है
वो दूर होकर भी मेरे रूह में शामिल अभी है

जिनकी मौजूदगी से साँसें भी महकती थीं कभी
अब उनकी यादों से हर कोने में ख़ुशबू बसती है

'शफ़क़' जो ग़ायब हुए तो दिल से नहीं गए कहीं
हर कोना बोलता है - वो रूह की तरह मौजूद हैं अभी

ग़ज़ल: 'सवालों का सफ़र'

प्रस्तावना:

ज़िंदगी अक्सर जवाबों से नहीं, सवालों से बनती है - वो सवाल जो बाहर से नहीं, अंदर से उठते हैं। जो नींद में नहीं, जागते हुए सताते हैं। जिनका कोई लफ़्ज़ी हल नहीं होता, बस एक सफ़र होता है - भीतर की वीरानियों से, तन्हा रौशनियों तक।

यह ग़ज़ल उस रहगुज़र की ख़ाक से बुनी गई है, जहाँ हर उत्तर ढलता जाता है, और हर सवाल एक नया दरवाज़ा खोलता है रूह की खोज का। इस ग़ज़ल में "सवाल" कोई साधारण प्रश्न नहीं, बल्कि रूह के सफ़र का मानचित्र है। हर शेर एक ऐसे मोड़ की ओर इशारा करता है जहाँ उत्तरों की उम्मीद नहीं, बल्कि प्रश्नों के साथ जीने का हुनर सिखाया जाता है। 'शफ़क़' की रूह से निकली यह ग़ज़ल तन्हा सवालों की शमा बनकर अंधेरों में भी उजास बाँटती है।इसमें प्रतीक हैं: धुंध, बस्ती, राह, जवाल, क़ब्र, और सज़ा, जिनसे होकर हम एक अंतर्ज्ञान की यात्रा करते हैं।

ग़ज़ल: 'सवालों का सफ़र'

ज़मीं पे छा रहा है एक अनघट मंज़र सवाल में
बिखर गया है जैसे नूर का आलम सवाल में

हवाएँ गुनगुनातीं हैं कोई नग़मा-ए-वफ़ा मगर
सदा खो जाती है हर एक बस्ती-ए-ख़याल में

निगाहों में समेटे हैं हज़ारों रंग-ए-ज़िंदगी
मगर हर रंग पिघला इक धुंधले जवाल में

कहाँ ले जाएगी ये राह-ए-इश्क़-ए-बे-निशाँ हमें
के हर क़दम पे उलझा है कोई ग़म सवाल में

न ज़माने की नज़र में, न ख़ुद की खोज में रहा
वो सच जो डूब जाता है हर एक हाल में

हर एक चुप में छुपा है इक पुराना इज़्तिराब
जो लौटता है बनके दस्तक हर सवाल में

जिन्हें जवाब समझते थे, वही धोखा बने
रहे भटकते उम्र भर इस ही विसाल में

ग़ुबार बन के उड़ गईं तमाम आरज़ूएँ भी
रहा जो रहनुमा बस इक ख़ामोश जलाल में

मिरी रगों में उतरता गया इक नाम-ए-बे-सदा
जो रह गया अधूरा हर बार इकमाल में

कभी जो ज़ख़्म थे, अब पूछते हैं हाल मिरा
गई जो रूह भी, रह गई है इक चाल में

क़ब्र में भी सज़ा नहीं देंगे ये सौदे 'शफ़क़'
ख़ाली ही लौटना है हर एक सवाल में

अनघट: असंभव-सा, अप्रत्याशित, विस्मयकारी
नूर का आलम: रूहानी प्रकाश या सत्य का विस्तार
बस्ती-ए-ख़याल: कल्पनाओं की बस्ती, मन की दुनिया
जवाल: पतन, क्षय या प्रकाश का मद्धम हो जाना
इज़्तिराब: बेचैनी, अंदर की हलचल
विसाल: मिलन, यहाँ-समाधान का मिलना
ग़ुबार: धुंध, गर्द, भावनात्मक धुँधलापन
जलाल: गंभीर प्रभाव, मौन तेजस्विता
इकमाल: पूर्णता, परिपूर्णता
सौदे: सौग़ात, लेन-देन, जीवन की उठापटक

ग़ज़लः 'फ़र्ज़ ए रौशनी'

प्रस्तावनाः

यह ग़ज़ल उस रूहानी ज़िम्मेदारी की परतें खोलती है जिसे हम "फ़र्ज़-ए-रौशनी" कहते हैं। जीवन की हर चुनौती, हर अँधेरा - हमें एक ही सवाल देता है: क्या तुम अब भी रोशनी बनोगे?

यह ग़ज़ल उन्हीं जज़्बों की नुमाइंदगी करती है जो अंधेरे से टकराने की हिम्मत रखते हैं। इसमें शम्अ (दीपक) उस इंसान का रूपक है, जो खुद जलकर औरों को उजाला देता है, जबकि ज़ुल्मत (अँधेरा) जीवन की हर वह कठिनाई है, जो उस उजाले को निगलना चाहती है।

यह सिर्फ़ रौशनी की बात नहीं करती, बल्कि उस नैतिक, आत्मिक और मानवीय फ़र्ज़ की बात करती है जो हर सच्चे इंसान का धर्म है - रोशनी फैलाना, चाहे हालात कितने ही मुश्किल क्यों न हों।

यह ग़ज़ल न सिर्फ़ फ़लसफ़ी है, बल्कि प्रेरक भी। इसमें सच्चाई, हौसले, और इंसानी धर्म के प्रति एक आत्मिक आग्रह है - और सबसे ख़ूबसूरत बात ये है कि हर शेर दिल और ज़मीर को एक साथ जगाता है।

ग़ज़लः 'फ़र्ज़ ए रौशनी'

मत डिगा तू सैलाबों से, इक सफ़र दरकार रौशनी
हर किनारा डूब जाए, फिर भी दिल में प्यार रौशनी

साँस लेना भी इबादत है अगर दिल साफ़ रौशनी
ज़िंदगी हर हाल में फिर एक नेक इज़्हार रौशनी

बुझ भी जाए दीप सौ बार इस अँधेरी रात में
आख़िरी उम्मीद बनकर फिर जले, हर बार रौशनी
हौसले की लौ थरथराए तो संभाल उसे यार
हर नज़र में जो चमकता है, वही दस्तार रौशनी

बोल मत ग़म से भरी इस भीड़ में तू सर झुकाके
ज़ख़्म की चिंगारी अक्सर सबसे बड़ी पुकार रौशनी

राह में जब पत्थरों से भी उगें काँटे नए
पाँव रख फिर भी बढ़ा - तू ही तो करतार रौशनी

आँधियों में मत समेट अपने दिए की हार को
शम्अ बन जलता रहे जो- है वही सरकार रौशनी

वक़्त की इस गर्द में भी रूह को ताज़ा रखो
हर घड़ी को दे जो मतलब, वो हो किरदार रौशनी

तन्हाइयाँ जब रक़्स करें रूह के पास आकर
तब यक़ीं को थाम लेना - सबसे ऊँचा वार रौशनी

ज़ुल्मतों में मुस्कुराना इक फ़र्ज़ है, 'शफ़क़'
शम्अ जलती है उसी सैलाब-ए-ज़िंदगी में रौशनी

इबादत: उपासना, पूजा
दस्तार: पगड़ी; प्रतीक आत्मसम्मान का
करतार: सृजनकर्ता; जो रास्ता बनाए
सरकार: यहाँ रूपक रूप में - असली ताक़त या सच्चा नेता
किरदार: चरित्र, भूमिका
रक़्स: नृत्य; यहाँ रूपक में - हलचल, बेचैनी
शम्अ: दीपक
ज़ुल्मत: अंधकार, कठिनाइयाँ

ग़ज़ल: 'पत्थर की रौशनी'

प्रस्तावना:

"पत्थर की रौशनी" - एक प्रतीकात्मक शीर्षक में प्रस्तुति है। यह विरोधाभास दर्शाता है:

-पत्थर ⟶ कठोरता, चुप्पी, बेज़ुबानी

-रौशनी ⟶ जीवन, उष्मा, उन्मेष

इस शीर्षक में शायर का आत्म-बिंब छुपा है - एक ऐसा इंसान जो हालात से पत्थर बना, मगर दिल में रौशनी की एक लौ अब भी धड़कती है।

यह ग़ज़ल उन तमाम इंसानी जज़्बातों की अभिव्यक्ति है, जो भीतर से टूटकर भी ज़ाहिर नहीं होते।

यह उन आत्माओं की कहानी है जो वक़्त, समाज और हालात की चोटों से पत्थर तो बन जाती हैं, पर भीतर अब भी एक रौशनी की लौ लिए जीती हैं।

यह ग़ज़ल सवाल नहीं उठाती, वो मौन की उस चीख़ को आवाज़ देती है जो अक्सर पत्थरों में कैद होती है - मूरतों में, चेहरों में, रिश्तों में और ज़िंदगी की खामोश साँसों में।

यह ग़ज़ल उस व्यक्ति की आंतरिक आवाज़ है, जो अकेलेपन, टूटन और चुप्पियों के बीच भी अपनी ज़िंदगी की पहचान और आत्मिक रौशनी को संजोए हुए है।हर शेर एक अलग मनोभाव खोलता है:

-कोई मूरतों में जज़्बात छुपाए बैठा है,

-कोई आईनों से डरता है,

-कोई हँसी को तस्वीरों में जज़्ब कर चुका है,

-तो कोई दीवारों में भी नमियाँ महसूस करता है।

मक़ते में 'शफ़क़' के भीतर का उजास अब भी जलता हुआ दिखता है - हालात चाहे जैसे हों।

ग़ज़ल: 'पत्थर की रौशनी'

टूटकर भी नाम हो, कुछ रौशनी के काम हो
ज़िंदगी की हर साँस में कुछ तो नई पहचान हो

हर बिखरती चीज़ में कुछ सिलसिले बदनाम हों
कुछ मकाँ पत्थर बने हों, कुछ तो उसमें जान हो

जो लफ़्ज़ बन जाए दुख, वो रूह को आराम दे
जो दबा रह जाए दिल में, उम्र भर तूफ़ान हो

हमने सांचे में ढले जज़्बात पत्थर में छुपाए
कोई सुन ले दिल से इनको, मूरतों में जान हो

आईनों से डर लगे, ख़ुद से नज़र मिलती नहीं
घर में सब मौजूद हैं, फिर भी नहीं इंसान हो

हर ख़मोशी का नहीं मतलब बिखर जाना मगर
कुछ सुकूँ साँसों में हो, कुछ ख़ुद से भी ईमान हो

वो हँसी जो चुप हुई, तस्वीर बन कर रह गई
ज़िंदा है वो लम्हा लेकिन, बेज़बाँ एहसान हो

पत्थराना रंग मत देखो मेरी खामोशियों में
इन नमी की दीवारों में अब भी इक अरमान हो

कुछ बनाते हैं वहाँ दीवार रिश्तों की जहाँ
दिल अगर पत्थर बने तो दर्द भी आसान हो

'शफ़क़' हालात के पत्थर में भी इक लौ बची रहे
वक़्त के सीने में अब भी उसका कुछ सम्मान हो

ग़ज़ल: 'रोज़ की रफ्तार में...'

प्रस्तावना:

यह ग़ज़ल तेज़ रफ्तार ज़िंदगी में उस गुम हो चुकी सुकून की तलाश है, जो कभी हमारी साँसों, ख्वाहिशों और रिश्तों में था। आज हर कोई मंज़िल के पीछे भाग रहा है, लेकिन क्या हमने कभी ठहर कर ये देखा है कि इस दौड़ में हमने क्या खो दिया? यह ग़ज़ल उसी आत्म-मंथन का दस्तावेज़ है-जहाँ रफ़्तार से ज़्यादा ठहराव की पुकार है, और जहाँ ज़िंदगी की ख़ामोशी भी कुछ कहती है।

लेखनी की रचनात्मकता इसमें एक दार्शनिक समर्पण की तरह उभरती है-जिसमें वो "हार" को भी एक रूहानी मुस्कान में बदल देता है।

ग़ज़ल: 'रोज़ की रफ्तार में...'

दिल को भी वक्त दो, ज़रा ठहरने का हक़ दो
ये दौड़ मंज़िलों से पहले ही थक जाती है...

हर रोज़ भागती है, कुछ खो के कुछ कमाती
ज़िंदगी चुपचाप सी बातें अब तक कह जाती है...

सपनों की भीड़ में ही ख्वाहिश कहीं बुझी सी
हर मुस्कराहट अपनी शर्तों पे बिक जाती है...

कंधों पे बोझ रखकर, हम चल तो देते हैं पर
जो सांस बाकी होती, वो रूह में बस जाती है...

ठहर के देख लो ना, क्या खो गया सफ़र में
कभी जो साथ चलती थी, अब वही परछाई है..!

चाहत भी क्या मिली है, जब चैन छिन गया हो,
जो पास है वो क्यों हर पल फिसलती जाती है...

ख़ामोश राहों में अब तन्हाई भी गुनगुनाती
हर कदम पे याद कोई धीरे से चुभ जाती है...

ज़र्रे-ज़र्रे में बसती है इक अधूरी सी सैर
ख्वाबों की बस्ती में रातें ठिठक सी जाती हैं…

क्यूँ हर सवाल का जवाब अब सिर्फ़ ख़ामोशी
दिल की ज़ुबाँ भी अब गुमसुम सी हो जाती है…

कभी जो हँसी थी अपनी, अब बोझ सी लगती है
ज़िंदगी की ये आदत हर पल बदल जाती है…

कहाँ तक उड़ोगे तुम इन ख़्वाबों के परों में
हक़ीक़त की ज़मीं भी अक्सर गिरा जाती है…

दर्द की इक लकीर है, मुस्कान के नीचे
जो भी पढ़े नज़रों से, वो सहम सी जाती है…

छूने चले थे चाँद को हम ज़मीं भुलाकर,
अब अपनी परछाईं भी पास नहीं आती है…

कभी जो हँसी थी अपनी, अब बोझ सी लगती है
ज़िंदगी की ये आदत हर पल बदल जाती है…

कहाँ तक उड़ोगे तुम इन ख़्वाबों के परों में
हक़ीक़त की ज़मीं भी अक्सर गिरा जाती है…

दर्द की इक लकीर है, मुस्कान के नीचे
जो भी पढ़े नज़रों से, वो सहम सी जाती है…

छूने चले थे चाँद को हम ज़मीं भुलाकर
अब अपनी परछाईं भी पास नहीं आती है…

शफ़क़' तू भी रुक जा, मत सोच जीत क्या है
कभी हार कर भी तो रूह मुस्कराती है…

ठहरने का हक़: रुककर सोचने का अवकाश
ख़ामोश राहें: : अनुभूतियाँ जो चुपचाप चलती हैं
गुमसुम सी ज़ुबाँ: मन की भाषा जो अब बोल नहीं पाती

ग़ज़लः 'अपना आसमान'

प्रस्तावना:

यह ग़ज़ल उन आत्माओं को समर्पित है, जो भीड़ से अलग, अपनी रौशनी में चमकने का साहस रखते हैं। यह परवाज़ उन परिंदों की है जो दूसरों से होड़ नहीं करते - बल्कि अपने ही फ़लक पर नई राह बनाते हैं। हर शेर एक रूहानी उड़ान है, जहाँ आत्म-साक्षात्कार, स्वतंत्रता, और आत्म-सम्मान के रंग शामिल हैं।
यह ग़ज़ल कहती है -"मुक़ाबला मत करो, मुक़म्मल बनो", क्योंकि हर परिंदा जब अपने ही आसमान में उड़ता है, तब वो सबसे खूबसूरत होता है।

ग़ज़लः 'अपना आसमान'

मैं अपनी उड़ान में हूँ, मुझे औरों से क्या वास्ता
हर परिंदा अपने आसमान में ही खूबसूरत होता है

नज़रें उठें तो सितारों से गुफ़्तगू हो जाए
दिल की राहों में बस अपनी मुलाक़ातें हों
ज़मीं की चाह अब लगती पराई है मुझको
हर परिंदा अपने आसमान में ही खूबसूरत होता है

हवाएँ बाँधें मेरे ख्वाबों की दास्तान
ख़ामोशी में भी गूंजे दिल का तराना
जब रूह कहे — "बस ये मेरा रास्ता"
हर परिंदा अपने आसमान में ही खूबसूरत होता है

न कोई सरहद हो, न कोई शिकंजा
जहाँ हर साँस में बस हो खुला ताज़ा अंदाज़ा
हर लम्हा जब हो रचनाकार का नक्षा
हर परिंदा अपने आसमान में ही खूबसूरत होता है

सूरज से रंग लेकर नया सबेरा बुन लूँ
चाँदनी से छूकर खुद को फिर से चुन लूँ

हर कदम पर बंधा हो बस आज़ादी का सपना
हर परिंदा अपने आसमान में ही खूबसूरत होता है

तूफ़ानों से न डरूँ, न बादलों से हो शिकवा
दिल के भीतर सजा है मेरा ही इक सिलसिला
ख़ुद को पाने की यही तो है बसर ‘शफ़क़’
हर परिंदा अपने आसमान में ही खूबसूरत होता है।

परिंदा: व्यक्ति का प्रतीक, जो आत्मा, स्वतंत्र सोच, या सपनों का दूत बनता है
आसमान: स्वतंत्रता, आत्म-क्षेत्र, जीवन की अपनी परिधि।
उड़ान: आत्म-विकास, उन्नति और सपनों का पीछा करने की क्रिया।

ग़ज़ल: 'सुकून की परछाइयाँ'

प्रस्तावना:

यह ग़ज़ल, "सुकून की परछाइयाँ", उस नाज़ुक मनोदशा को शब्दों में पिरोती है, जहाँ जीवन की उथल-पुथल और खोए हुए लम्हों की कसक अब एक शांत समर्पण में बदल जाती है। यह उन रातों की तन्हाई की बात करती है, जो कभी सजा थीं, मगर अब रूह के लिए एक निज़ाम बन गई हैं-एक ऐसी व्यवस्था, जहाँ हर आहट, हर याद, और हर ख़ामोशी सुकून की परछाई बनकर आती है। यह ग़ज़ल उस मुकाम की है, जहाँ दर्द अब टीस नहीं, बल्कि एक मीठा एहसास है, जो दिल को गले लगाने की इजाज़त देता है। यहाँ हर शेर एक पड़ाव है-एक ऐसी मंज़िल, जहाँ खोया हुआ भी अब सुकून देने आता है, और बीते लम्हों का अक्स अब उजाले बनकर चमकता है। यह ग़ज़ल सिर्फ़ शब्दों का मेल नहीं, बल्कि एक ऐसी रूहानी यात्रा है, जो हमें अपने भीतर की ख़ामोशियों से दोस्ती करना सिखाती है।

ग़ज़ल: 'सुकून की परछाइयाँ'

सुकून मिल ही जाता है जब याद आ जाएं
दिल गले लगाता है फिर उन सायों को

जो लम्हे छू गए थे बस ख़ामोशी में
अब चुप सी कहानियाँ हैं उन राहों को

रात की नर्मी में गुम एक राहत है
हमने सौंप दिया चैन अल्फ़ाज़ों को

अब तसव्वुर भी नहीं करता कोई शिकवा
सीने से लगा बैठे हैं फ़सानों को

हर आहट से अब डर नहीं लगता मुझको
घर कर लिया है दिल ने उनींदी हवाओं को

आईनों में जो अक्स नज़र आता है अब
पहचान लिया है हमने उजालों को

ख़्वाबों की बस्ती में बिछड़े जो लम्हे
नींदों में लौट कर छूते हैं सायों को

वक़्त की रेतों में जो ग़म छिपे थे कभी
दिल ने सँजो लिया है उन ठिकानों को

ख़ामोश लहरों में बिखरा है एक नूर
समेट लिया है हमने वो उजालों को

'शफ़क़' अब रंज नहीं, बस इक एहसास है
हमने थाम लिया है दिल से इन सायों को

तसव्वुर: कल्पना, विचार
फसाना: किस्सा, दास्तान
अक्स: प्रतिबिंब
रंज: दुख, पीड़ा

ग़ज़ल: 'रुख़्सत की वसीयत'

प्रस्तावना:

यह ग़ज़ल उन आत्माओं की ओर से है जो मृत्यु को शिकस्त नहीं, एक मरतबा (पदवी) मानती हैं। यह वसीयत उनकी है जिन्होंने जीवन को पूरे होश से जिया और अब अंतिम यात्रा को भी गरिमा से पूरा करना चाहते हैं - बिना कृत्रिम साँसों, बिना अस्पताल की मशीनों और बिना रिश्तों की घबराहट के।

'रुख़्सत की वसीयत" में मृत्यु को डर के अंधेरे से निकाल कर, नूर की तरह देखा गया है - जैसे कोई सहर की सबा आकर रूह को आहिस्ता से जगा दे। यह सिर्फ़ "जाना" नहीं, बल्कि घर की ओर "लौटना" है - उसी सुकून में जहाँ जीवन की शुरुआत हुई थी।

ग़ज़ल: 'रुख़्सत की वसीयत'

जब रूह पुकारे सबा-ए-सहर से, बस सैर करना है
ज़ंजीर-ए-नफ़स तोड़, घर में ढल देना है

जितना तन को चलाया, थी इक राह-ए-फ़ना
न सलीक़ा-ए-बेमारी, ख़ुद को हल देना है

शम्अ-ए-हयात जो बँधी थी राग-ए-ज़िंदगी से
वो बुझ जाए चुपके से, सब कुछ थल देना है

मर्ग न कोई शिकस्त है, न रोगों की साज़िश
रब का पैग़ाम-ए-नूर है, दिल से खिल देना है

हर नफ़स-ए-बिल में क्यूँ बंधन उलझाएँ
जब देह पुकारे ख़ुद, उसको जल देना है

ज़िंदगी रस्म-ए-फ़ानी थी, डर का क्या ज़ौक़ अब
मर्ग को इक मरतबा समझो, नाम बदल देना है

नक़्श-ए-कदम जो बिछे थे राह-ए-बेकराँ में
उनको मिटा दे सहर, रुख़ को हल्का करना है

सैर-ए-दो-आलम में थी बस इक हक़ीक़त-ए-नूर
जो मिले ख़्वाब में, उसको मल देना है

जब रुख़्सत-ए-'शफ़क़' हो तय, रहमत से हो विदा
हंगामों से दूर कहीं, दिल को हल देना है

ये आख़िरी बात, सुन सको तो सुन लो मेरी
घर से चला था, घर ही में पल में ढल देना है

रूह: आत्मा
सबा-ए-सहर: सुबह की ठंडी हवा
ज़ंजीर-ए-नफ़स: सांसों की बेड़ियाँ
राह-ए-फ़ना: नश्वरता की राह
सलीक़ा-ए-बेमारी: बीमारी से मरने का शऊर
हल देना: हल्का कर देना, मुक्त कर देना
शम्अ-ए-हयात: जीवन की लौ
राग-ए-ज़िंदगी: जीवन का संगीत, कंपन
थल देना: शांत कर देना, समेट देना
मर्ग: मृत्यु
पैग़ाम-ए-नूर: प्रकाश का संदेश
नफ़स-ए-बिल: बिल यानी अस्पताल का बिल; यहाँ सांसों के व्यापार का संकेत
मरतबा: दर्जा, पदवी
नक़्श-ए-कदम: पैरों के निशान
राह-ए-बेकराँ: अनंत राह
सैर-ए-दो-आलम: दोनों जहाँ की यात्रा (इस दुनिया और परलोक की)
हक़ीक़त-ए-नूर: रौशनी की सच्चाई
रुख़्सत-ए-'शफ़क़': 'शफ़क़' की विदाई
ढल देना: शांत हो जाना, समाहित हो जाना

ग़ज़ल:
(लेखन को समर्पित – 'स्याही में भीगे जज़्बात')

प्रस्तावना:

लेखन केवल शब्दों का विन्यास नहीं होता - यह आत्मा की ऐसी पुकार है जो कभी लफ़्ज़ों में खुलती है, तो कभी सन्नाटे में सिसकती है। जब मन की भूमि पर भावों की वर्षा होती है, तब लेखनी खेत बन जाती है - कुछ फसलें अर्थ की होती हैं, कुछ अनुभूति की। लेखक का हृदय किसी सजे मंच का वाचक नहीं, वह अक्सर टूटे पुलों का मरम्मतकार होता है - जहाँ हर शब्द एक कील है, हर विराम एक साँस, और हर कविता एक पुनर्जन्म।
"स्याही में भीगे जज़्बात" एक ऐसी ही रचना है - जहाँ लेखन की साधना, उसकी पीड़ा और उसकी पूर्ति - तीनों एक साथ धड़कते हैं। यह कविता उस मौन श्रद्धांजलि की तरह है जो हर लेखक अपने भीतर बैठी संवेदना को देता है।
यह कविता कहती है - कि लिखना रोना भी है, रचना भी है, और रौशनी भी।
यह उन सभी के लिए समर्पित है -
जो लिखते हैं क्योंकि चुप नहीं रह सकते।
जो लिखते हैं क्योंकि दुनिया को थोड़ा बेहतर, थोड़ा गहरा और थोड़ा सच्चा देखना चाहते हैं।

ग़ज़ल: 'स्याही में भीगे जज़्बात'

शब्दों से मन के भावों का जैसे पोषण होता है
लिखना भी आसान कहाँ है, तन-मन अर्पण होता है

सुख-दुख सारे कह देते हैं अक्सर अक्षर ये सारे
कुछ कलमों की स्याही में आँसू का मिश्रण होता है

जब जज़्बातों की तपिश में भाव पकते हैं चुपचाप
तब शब्दों की कड़ाही में खुद ही पकवान बनते हैं

हर अक्षर कोई ऋचा सा, हर वाक्य एक व्रत होता है
लेखन केवल शौक नहीं, ये तो आत्म समर्पण होता है

स्याही में बहती यादों की कुछ चुप लहरें होती हैं
और काग़ज़ पर मौन बिखरता - जैसे कोई क्रंदन होता है

कुछ पंक्तियाँ खुद लिखती है, कुछ रचती हैं रूह हमारी
कुछ भाव अधूरे रहते हैं, कुछ पूरी कथन होती है

दिल जब ख़ामोशी से बोले और आँखें नम रह जाएँ
तब लेखनी हर चुप चीख़ को रौशनी में ढलती है

ये लिखना नहीं मात्र कला, ये एक साधना है साथी
जहाँ मन शब्दों की माला, और लेखनी अर्चन होती है

ग़ज़ल: ‘फ़ानी वजूद’ (नश्वर अस्तित्व)

प्रस्तावना:

ज़िंदगी एक मुसाफ़िर की तरह है जो इस सराय-ए-दुनिया में कुछ लम्हों के लिए ठहरता है। हर रौनक़, हर शोहरत, हर दर्द, सब कुछ फ़ानी है। इंसान अगर इस हक़ीक़त को समझ ले, तो उसका सफ़र रूहानी सुकून में बदल जाता है। यह ग़ज़ल उसी एहसास का बयान है कि हम सब बस एक किरदार हैं, जिसे अपने हिस्से की रोशनी जलाकर लौट जाना है।

ग़ज़ल: ‘फ़ानी वजूद’ (नश्वर अस्तित्व)

मैं कोई किताब-ए-अज़ल तो नहीं जो सदा रहूँ
बस एक नक़्श-ए-फ़ानी हूँ, जिसे मिट जाना है

मुझे तो इस दश्त-ए-हयात में इक किरदार निभाना है
ये अमानत-ए-रूह है, जिसे लौटा के चले जाना है

ये रौनक़-ए-महफ़िल भी बस चंद साँसों की मोहताज है
जब उठेगा पर्दा, ये तमाशा भी थम जाना है

न कर नाज़ इस दौलत-ए-फ़ानी पे ऐ इब्न-ए-आदम
कि वक़्त की आँधी में हर शजर को झुक जाना है

ये रंग-ओ-बू, ये तग़य्युर, ये फ़रेब-ए-नज़र हैं सब
हक़ीक़त तो ये है कि हर अक्स धुँधला जाना है

जो रौशनी है मेरे क़दमों की, ये भी आरज़ी है
इस चिराग़-ए-जाँ को भी इक शब बुझ जाना है

ये दुनिया है इक सराय, जहाँ मुसाफ़िर आते-जाते हैं
हमें भी इक रोज़ यहाँ से ख़ामोशी से गुज़र जाना है

जो दर्द है दिल में, उसे अश्क बनाकर बहा दे ‘शफ़क़’
कि इस अधूरे अफ़साने को यहीं ख़त्म हो जाना है

किताब-ए-अज़ल: सृष्टि की प्रारंभिक किताब, नियति का लेखा
नक़्श-ए-फ़ानी: नश्वर छवि, मिट जाने वाला निशान
दश्त-ए-हयात: ज़िंदगी का रेगिस्तान
अमानत-ए-रूह: आत्मा की सौंपी हुई ज़िम्मेदारी
दौलत-ए-फ़ानी: अस्थायी संपत्ति, भौतिक वैभव
इब्न-ए-आदम: आदम की औलाद, अर्थात इंसान
शजर: पेड़, वृक्ष
तग़य्युर: परिवर्तन, बदलाव
चिराग़-ए-जाँ: आत्मा का दीपक, जीवन की लौ
सराय: सराय या धर्मशाला, जहाँ मुसाफ़िर कुछ समय ठहरते हैं
अफ़्साना: कहानी, कथा

ग़ज़ल: 'ख़्वाब का सफ़र'

प्रस्तावना:

यह ग़ज़ल इंसानी ज़िंदगी के उन लम्हों की तरजुमानी करती है जहाँ दुख और उम्मीद, दोनों साथ चलते हैं। ग़म को मिटाने के बजाय उसे एक 'हसीन मोड़' समझकर स्वीकारना, और आने वाले कल के लिए दिल में एक नया ख़्वाब रखना, यही इसका मक़सद है। इसमें यह पैग़ाम है कि वक़्त की मौजों के साथ चलना सीखिए, बीते लम्हों को रुख़सत कीजिए और अपनी रूह में मोहब्बत, सब्र और दुआ का चराग़ जलाइए। यह ग़ज़ल बहर-ए-मुतक़ारिब (फ़ाएलातुन फ़ाएलातुन फ़ाएलातुन फ़ाएलुन) में बाँधी गई है और रदीफ़ 'रखिए' तथा क़ाफ़िया 'ख़्वाब, जवाब, किताब, हिसाब, नक़्शाब, गुलाबष्ठ' आदि हैं।

ग़ज़ल: 'ख़्वाब का सफ़र'

कौन कहता है जनाब, आप हर बात याद रखिए
ग़म को भी ज़िंदगी का एक हसीन ख़्वाब रखिए

दुनिया में लाख झंझट, नहीं फ़ुर्सत किसी को अब
दिल के करीब जो भी हो, उसे बे-हिसाब रखिए

जो लम्हा गुज़र गया है, उसे रुख़सत होने दीजे
आने वाले कल के लिए एक नई किताब रखिए

रौनक़ तो आके जाती है, वक़्त की ये मौज है
अपने ज़ेहन के अन्दर खुशियों का गुलाब रखिए

रात अगर स्याह हो, चाँद को इल्ज़ाम न दें
तन्हाई में भी दिल में उम्मीद का चराग़ रखिए
टूटे हुए ख़्याल भी एक दिन साज़ बनेंगे
ज़ख्मों की गर्द छँट जाए, तो नया हिसाब रखिए

दिल थक गया हो गर, तो ज़रा ठहर के जी लीजिए
ख़्वाबों की भीड़ में अपना थोड़ा-सा सुकून रखिए

मत ढूंढिए जहाँ भर में वफ़ा का नक़्श-ओ-नाम
रूह की तह में बस मोहब्बत का शराब रखिए

दुश्मनी हो अगर, लहजा न हो बे-पर्दा कभी
बात कहिए मगर उसमें अदब का जवाब रखिए

सफ़र तवील सही, राह को वीरान न कीजिए
राहगुज़र के दिल में भी मोहब्बत का गुलाब रखिए

कश्ती-ए-दिल को ‘शफ़क़’, तूफ़ानों से डरना कैसा
रब पे यक़ीं रख, हाथ में बस दुआ की किताब रखिए

ज़ेहन: मन, चेतना
रुख़सत: विदा करना, जाने देना
चराग़: दीपक, रोशनी
तह: गहराई, परत
शराब (रूपक): नाज़ुक मोहब्बत या रूह की नमी का प्रतीक
राहगुज़र: रास्ते से गुज़रने वाला मुसाफ़िर
तवील: लंबा, दीर्घ
सुकून: शांति, मानसिक आराम

ग़ज़ल: 'शब-ए-फ़िराक़ की दस्तक'

प्रस्तावना:

यह ग़ज़ल जुदाई के उस एहसास को बयां करती है जहाँ तन्हाइयाँ भी हुस्न के निशान से खाली नहीं, और सफ़र तमाम होते-होते रिश्ते बिखरते चले जाते हैं। रूह में उठते इंक़लाब से लेकर ख़्वाबों की राख तक हर शेर इश्क़, तजुर्बे और फ़ना की धुंध से भीगा हुआ है। यह सिर्फ़ दर्द नहीं, बल्कि उस दर्द की तहज़ीब है जो ख़ामोशी में भी बोलती है।

ग़ज़ल: 'शब-ए-फ़िराक़ की दस्तक'

शब-ए-फ़िराक़ में भी रहा हुस्न का गुज़र
तन्हा थे हम, मगर शम्अ-ओ-क़मर साथ-साथ चले

इक इनक़िलाब रूह में मेरे उठा रहा
जब मंज़िलों से कट के मेरे हमसफ़र चले

दश्त-ए-जुनूँ में आज भी आवाज़ गुम है मेरी
वो कारवाँ मेरे ही रुख़ से बेख़बर चले

मता-ए-दिल भी लुटी, ख़्वाहिशें भी ख़ाक हुईं
हवा-ए-ग़म में जल के मेरे पर-ओ-पंख चले

अब कौन दस्तकें दे इस ख़ामोशी-ए-शब में
जब अहल-ए-दिल मकान-ओ-दर-ओ-दीवार छोड़ चले

वो रंग-ए-नफ़ासत कहाँ से लाएँ अब
जब लुत्फ़ ही नहीं रहा, न कोई असर चले

हर नक़्श पर था अदम का ग़ुबार छाया हुआ
वो ख़्वाब जिन की ताबीर को हम मुज़तरिब चले

वो साज़ थे कि टूटने का था जिनका मुक़द्दर
वो लम्हा था कि बस पल भर को हमसफ़र चले

‘शफ़क़’ ये दर्द-ए-हयात इक इबारत-ए-सोज़ है
हम हँस के जी तो उठे, पर लिए जिगर चले

शब-ए-फ़िराक़: जुदाई की रात
शम्अ-ओ-क़मर: शमा और चाँद (रौशनियाँ)
इंक़िलाब: क्रांति, भीतर उठता तूफ़ान
दश्त-ए-जुनूँ: दीवानगी का वीरान इलाक़ा
मता-ए-दिल: दिल की पूँजी/माल
मुज़्तरिब: बेचैन, व्याकुल
तग़ज़्ज़ुल: नज़ाकत भरी गीली शोखी
अदम: शून्य, न होना
दर्द-ए-हयात: जीवन की तकलीफ़ें और संघर्ष
सोज़: दर्द में डूबी हुई तपिश

ग़ज़ल: 'ख़ौफ़ से आगे ज़िंदगी'

प्रस्तावना:

ज़िंदगी के सफ़र में ख़ौफ़, यक़ीं, उम्मीद और मोहब्बत , ये चारों जज़्बात ऐसे हैं जो इंसान के हर कदम, हर सोच और हर साँस को प्रभावित करते हैं। कभी डर की सर्द हवा दिल को जकड़ लेती है, तो कभी यक़ीं की धीमी रौशनी रास्ता दिखाती है। कभी हालात इतने बोझिल हो जाते हैं कि साँस लेना भी एक इम्तिहान लगता है, तो वहीं कहीं उम्मीद की नन्ही सी चिंगारी शम्अ बनकर जल उठती है। यही ज़िंदगी का माज़रा भी है और उसका सौंदर्य भी कि वह सिर्फ़ गुज़रना नहीं चाहती, बल्कि अपने हर मोड़ पर इंसान को जीना सिखाना चाहती है।

यह पेशकश 'ख़ौफ़ से आगे ज़िंदगी' इसी एहसास को एक ख़ूबसूरत ग़ज़लिया अंदाज़ में बयान करती है। यह ग़ज़ल न सिर्फ़ डर की दीवारों को चुनौती देती है बल्कि ख़्वाब देखने और उन्हें साहस के साथ जीने की दावत देती है। शायर ने अपने अशआर में दर्शाया है कि ज़िंदगी अगर इबादत है तो उसे मोहब्बत और हिम्मत के साथ निभाना भी ज़रूरी है। यह ग़ज़ल पाठक को यह यक़ीन दिलाती है कि चाहे लम्हे महर्रम के हों या हवाएँ गर्द से भरी हों, अगर दिल में भरोसा और रूह में रोशनी हो, तो ज़िंदगी को रुसवाई नहीं, रौनक़ बनाया जा सकता है। हर शे'र एक पुकार है कि हम डर को मंज़िल न बनाएँ बल्कि उससे आगे की ज़िंदगी को पहचानें, अपनाएँ और पूरे यक़ीन के साथ जीएँ। यही इस ग़ज़ल का मक़सद है , ख़ौफ़ से आगे की ज़िंदगी को सुना जाए, समझा जाए और महसूस कर के जिया जाए।

ग़ज़ल: 'ख़ौफ़ से आगे ज़िंदगी'

नहीं ये ज़िंदगी उस बेबसी का हर्फ़ बन जाए
चलो कुछ ख़्वाब बोएँ, डर की ज़िद से दर्फ़ बन जाए

जहाँ हर रात मर-मर कर सहर होने को आती है
वहीं इंसान क्यों हर वक़्त हादिसात गिन जाए

सफ़र में गर्द उठे तो रुकना कब ज़रूरी है
हवा का काम है बहना, न रुकना, न ठहर जाए

अगर दिल में यक़ीं हो तो समंदर भी झुकेंगे
क्यूँ हर लहर से पहले ख़ौफ़ के साए बिछ जाए

हमें तो हक़ है जीने का, मुसलसल बेख़ुदी में भी
ये क्या कि साँस लेकर भी कोई घुट-घुट के जी जाए

महर्रम-से लम्हों में भी उम्मीदें चमकती हैं
तभी तो शम्अ जलती है, न आँसू से बुझ जाए

'शफ़क़' जीना इबादत है, मोहब्बत की अमानत है
इसे हिम्मत से देखो, बस यूँ रुसवाई न बन जाए

दर्फ़: रुख़ बदलना, मुड़ जाना
गर्द: उड़ती हुई ख़ाक, धूल
हादिसात: हादसा का बहुवचन
यक़ीं: भरोसा, विश्वास
साए: परछाइयाँ, हल्की आहटें
महर्रम-से लम्हे: ग़म से भरे पल
इबादत: बंदगी, पूजा
अमानत: सौंपा गया पवित्र भरोसा

ग़ज़ल: ‘उम्मीद का एक दिया’

प्रस्तावना:

जब दर्द बहुत गहरा हो और रास्ते सुनसान लगने लगें, तब इंसान सिर्फ़ दो चीज़ों से ज़िंदा रहता है - सब्र और उम्मीद। यह ग़ज़ल उसी रोशनी की आवाज़ है, जो अँधेरों में भी बुझती नहीं। यहाँ तन्हाई को दुश्मन नहीं, बल्कि एक दिन हमक़दम बनने वाली रफ़ीक़ की तरह देखा गया है। इसमें हिज्र है पर यक़ीं भी है, टूटन है मगर सँवरने की आस भी। और आख़िर में शायर का संदेश कि अगर दिल में रोशनी का छोटा-सा दिया भी जलता रहे, तो हर अँधेरा एक दिन रास्ता दे ही देता है।

ग़ज़ल: ‘उम्मीद का एक दिया’

कोई वादा यहाँ वफ़ा हो, ये ज़रूरी तो नहीं
हाँ मगर हौसला रख, दर्द भी करम हो जाएगा

न घबराना कि दुख में ही गुज़र जाएगा सफ़र
देखना, सब्र से ये मौसम भी सँवर ही जाएगा

रात गहरी है तो क्या, चाँद अगर ढल भी गया
रौशनी का कोई जुगनू भी हमकदम हो जाएगा

जो हैं अपने, वो अभी वक़्त पे ओझल ही सही
हर नए मोड़ पे कोई दिल का हमदम हो जाएगा

दिल अगर टूट भी जाए, फिर सँवर सकता है ये
प्यार का बीता हुआ ग़म भी तो मरहम हो जाएगा

न होना उदास कि राहें हैं तनहा दूर-दूर तलक
देखना, साथ कोई ख़्वाब का सनम हो जाएगा

हर नक़ाब आख़िरश उतरेगा रफ़ाक़त के आगे
सच को छुपने का नहीं वक़्त, ये भरम हो जाएगा

हिज्र की रात भले ही लम्बी हो, तकलीफ़ सही
पर अगर दिल में यक़ीं है तो सहर हो जाएगा

पल दो पल ठहर के सही, ग़म से गुज़रना ‘दोस्त’
ये बस वक़्त है, इक दिन ये भी कम हो जाएगा

‘शफ़क़’ दिल में रौशनी का एक दिया जलता रहे
ये तन्हा सफ़र भी किसी रोज़ हमक़दम हो जाएगा

रफ़ीक़: साथी, हमसफ़र, घनिष्ठ दोस्त
रफ़ाक़त: दोस्ती, साथ रहना, साथ निभाने का रिश्ता

ग़ज़ल: 'दुआ का असर'

प्रस्तावना:

कभी-कभी ज़िंदगी सवालों से भर जाती है , "क्यों हम?", "क्यों इतना दर्द?", "कहाँ है न्याय?"लेकिन यही ग़ज़ल ये कहती है कि शायद हर तकलीफ़ सज़ा नहीं, कुछ दर्द रहमत का रास्ता भी बनते हैं।यहाँ शिकायत नहीं, सबर और दुआ की ताबीर है। यह ग़ज़ल उन दिलों के नाम है जो टूटे तो बहुत हैं, लेकिन अभी भी उनमें एक छोटा-सा दीया उम्मीद का जल रहा है।

ग़ज़ल: 'दुआ का असर'

ये कैसा फ़ैसला था कि रहमत उतर पड़ी
ख़ुदा की ख़ामोशी भी आज रहबर उतर पड़ी

जहाँ पसर गई थीं सदीयों की तीरगियाँ
उसी ज़मीन पे पहली ही शब सहर पड़ी

सफ़र अगर था मुश्किल, तो मंज़िल भी रूबरू
हर एक ठोकर पे रहमत की कोई नज़र पड़ी

हमारी आँख में आँसू थे, दिल में यक़ीं रहा
दुआ ने राह मोड़ दी, दुआ ही असर पड़ी

सितम की धूप थी, फिर भी बदन झुलसा नहीं
कि साए की तरह रहमत कहीं उतर पड़ी

गुज़र रहा था जहाँ से अज़ाब-ए-वक्त का सिलसिला
वहीं किसी की दुआ से करम की लहर पड़ी

जो लोग चल दिए थे मोहब्बत से आँख मूँद
उन्हीं के दर पे एक दिन मुहब्बत ठहर पड़ी

गिले भी थे, शिकायतें भी, मगर ये क्या हुआ
ज़ुबाँ पे शुक्र की मसर्रत अचानक उतर पड़ी

दोस्त, तुझे भी रुलाया ग़मों ने कई दफ़ा
मगर ये तेरी दुआ थी कि सब्र की उमर बढ़ी

'शफ़क़' तू दिल में रौशनी का दिया जलाए रख
दुआ की लौ से ही सदियों की रात ढल पड़ी

रहबर: रास्ता दिखाने वाला, मार्गदर्शक
तीरगियाँ: अंधेरा, उदासी
शब: रात
अज़ाब: यातना, कठिन परीक्षा
मसर्रत: ख़ुशी, आनंद

ग़ज़लः 'लकीरों के उस पार'

प्रस्तावनाः

यह ग़ज़ल उस इंसान की है जो हर रोज़ एक नई कहानी कहता है, मगर वही पुरानी लकीरों में उलझा रहता है। जानते हुए कि वक़्त फ़ानी है, मोहब्बत पाक है, और सादगी में असर है फिर भी वह दिखावे, रंज और ख़ुदफ़रेबी में डूबा रहता है। यह ग़ज़ल उसी आत्मसंवाद की कोशिश है, जहाँ रौशनी में भी साये सवाल उठाते हैं।रोज़ इक नई कहानी लिए फिरते हैं सब, फिर पुरानी लकीरों से निकलते क्यूँ हैं। यह ग़ज़ल उस दर्दमंद सोच की आवाज़ है जो इंसान की खोई हुई सादगी को पुकारती है। हम सब जानते हैं कि ज़िंदगी क्षणभंगुर है, पर हर रोज़ वही भूलें दोहराते हैं, नक़ाबों के नीचे अपने असली चेहरे भूल जाते हैं। इस ग़ज़ल में उस रूह की तड़प है जो रौशनी के बीच भी साये सवाल उठाते हैं।

ग़ज़लः 'लकीरों के उस पार'

आदमी जानता है सब है फ़ानी एक दिन
हाथ में रेत की मानिंद मसलते क्यूँ हैं

इश्क़ होता है तो इंसान निखर जाता है
फिर मुहब्बत में ये चेहरे यूँ बदलते क्यूँ हैं

तीरगी हो तो कोई बात भी हो, ऐ 'दोस्त'
रौशनी में ये साये से उबलते क्यूँ हैं

दिल को मालूम है ये शहर है पथरीला बहुत
काँच के ख़्वाब यहाँ ला के टहलते क्यूँ हैं

सादगी में ही असर है, ये सभी को है पता
फिर रियाकारी के जंगल में बहलते क्यूँ हैं

रूह के शोर को हम ग़र सुकून समझें तो क्या
ख़ुद से मिलते नहीं, गैरों से मचलते क्यूँ हैं

हर कोई चाँद की चाहत में जला करता है
धूप बनकर कोई ख़ुद को सँवरते क्यूँ हैं

रूह बिखरी है तमाशों में 'शफ़क़', देख ज़रा
हम सुकूनों के दरिया में भी जलते क्यूँ हैं
फ़ानी: नाशवान, मिट जाने वाला
मानिंद: जैसा, समान
तीरगी: अंधकार
रियाकारी: दिखावा, कपट
ख़्वाब: सपना
सुकून: शांति, आत्मिक विश्रांति

ग़ज़ल: 'जुस्तुजू क्या है?'

प्रस्तावना:

इंसान की फ़ितरत में हमेशा किसी ना किसी चीज़ की तलाश, यानी जुस्तुजू रही है, कभी सुकून की, कभी पहचान की, कभी किसी अपने की , मगर अजीब बात है कि लोग जुस्तुजू करते हैं पर यह नहीं जानते कि वह असल में तलाश किसकी है , वजूद की, रिश्तों की, या फिर ख़ुद की। यही सवाल और एहसास इस ग़ज़ल का मर्म है।

ग़ज़ल: 'जुस्तुजू क्या है?'

जो ख़ुद से पूछ के देखो तो आरज़ू क्या है
हर इक सवाल के पीछे ये जुस्तुजू क्या है

कोई तो दिल से बताए ये फ़ैसला क्या है
कि ख़ामुशी में छुपी इतनी गुफ्तगू क्या है

कभी तो पूछते, अब पूछने से क्या हासिल
जो ख़त्म हो चुकी हो, वो दास्ताँ क्या है

ख़ुदी से जीत के भी मुझको हारना होगा
कि मेरे और मिरे बीच रूबरू क्या है

न दिल में नूर है अब, न ज़ेहन में राहत
तो फिर ये ख़ाक में मिलने की आरज़ू क्या है

वो पूछते हैं कि तुम क्यूँ उदास रहते हो
अजीब लोग हैं, पूछो ये गुफ्तगू क्या है

हकीकतें हैं मिरे आसपास फैली हुईं
अगर वो आँख न देखे तो आबरू क्या है

न मान दोस्त उसे, जो तेरी ही ना सुने
जो बात काट दे हर पल, वो गुफ्तगू क्या है

वफ़ा की राह में पत्थर भी मुस्कुराते हैं
अगर ये दिल ही न समझे तो जुर्म क्या है

हर एक आईना पूछे ये दिल से आज 'शफ़क़'
अगर न ख़ुद को पहचानें तो फिर ख़ुदी क्या है

जुस्तुजू: तलाश, खोज
गुफ्तगू: बातचीत
ख़ुदी: आत्म-सत्ता, स्वयं का अस्तित्व
आबरू: सम्मान, इज़्ज़त
रूबरू: आमने-सामने, साक्षात्कार की स्थिति
ख़ुदी: स्वयं , आत्मा का वास्तविक परिचय

ग़ज़ल: ‘रवायत-ए-मुलाक़ात’

प्रस्तावना:

इस ग़ज़ल में आधुनिक रिश्तों की नज़ाकत और उनकी बनावट पर सूक्ष्म टिप्पणी है।आज का इंसान व्यस्त, आत्मकेंद्रित और व्यवहारिक हो चला है।कभी जो मुलाक़ातें रूह को छू जाती थीं, अब वो महज़ अदबी रस्में रह गई हैं। मैने इन सबके बीच तहज़ीब, आदर और सलीके की पुनर्स्थापना का संदेश देने की कोशिश की है। यह ग़ज़ल आधुनिक समाज की ‘बातचीत की तहज़ीब’ पर एक नर्म मगर गूंजती हुई टिप्पणी है।

ग़ज़ल: ‘रवायत-ए-मुलाक़ात’

नज़ाकत-ए-दिल की बात है, बे-ज़ुबाँ रहो सलीके से
हर अहसास को कह दो बस, निगाहों के सलीके से

न वस्ल की अब तलाश है, न हिज्र की कोई तिश्नगी
जो मिल भी जाए ज़िंदगी, तो रहो भी सलीके से

ये शहर बड़ा संगदिल सही, मगर तुम अपने लहजे में
अगर हो सच्ची चाहतें, तो कहो भी सलीके से

हर एक महफ़िल में ग़म न छेड़ो, न अश्क-ए-दिल को बयाँ करो
ये दौर है मुस्कुराने का, रहो भी सलीके से

जहाँ अब हर इक रिश्ता भी, सियासतों में उलझ गया
वहीं नेक-नीयत बने रहो, निभाओ सलीके से

वो दौर गया, वो लोग गए, जहाँ रूह थी शनासाई
अब चेहरों के लिबास में, मिलो भी सलीके से

न दोस्ती का सबक़ रहा, न प्यार का वो सलीक़ा अब
जहाँ हर शै तिजारती है, खरीदो सलीके से

जो ख़ता करे कोई आपका, तो शिकवा दिल में न पालना
ये हुस्न है दरगुज़र का भी, भुलाओ सलीके से

'शफ़क़' न ढूँढ अब हाल-ए-दिल, न तिश्नगी-ए-सुकूत-ए-लब
जहाँ भी जाओ, सबको सलाम दो सलीके से

रवायत: परंपरा, चलन
सलीक़ा: तौर-तरीका, आदब, शालीनता
वस्ल: मिलन
हिज्र: जुदाई
तिश्नगी: प्यास, लालसा
लहजा: बोलने का अंदाज़
शनासाई: आत्मीय पहचान
तिजारती: व्यावसायिक, सौदेबाज़
दरगुज़र: माफ़ कर देना

ग़ज़ल: 'मुस्कुराहट की पनाह'

प्रस्तावना:

ज़िंदगी के बोझ तले दबे इंसान की यह ग़ज़ल, उस मुस्कुराहट की कहानी कहती है जो आँसुओं की गिरहों में भी उजाला तलाश लेती है। यह पेशकश उस रूहानी मज़बूती का इज़हार है जो दर्द को भी शायरी का जश्न बना देती है।

ग़ज़ल: 'मुस्कुराहट की पनाह'

हर ख़ुशी पर नहीं, ग़म पे भी हँसा देता हूँ
ज़ख़्म हो दिल में कहीं, फूल सजा देता हूँ

बेवक़्त, बेहिसाब, बेसबब मुस्कुरा देता हूँ
अपनी परेशानियों से पीछा छुड़ा लेता हूँ

ये क्या कम है कि हूँ महफ़िल-ए-दुनिया में शरीक
जब भी तन्हा हुआ, ख़ुद को सम्हाल लेता हूँ

ग़म जो आया तो उसे साज़-ए-तरब मान लिया
दर्द की धूप में भी शम' जला देता हूँ

लोग पढ़ते हैं मिरी आँखों में वीराने मगर
मैं उन्हें रौनक़-ए-बज़्म-ए-वफ़ा दिखा देता हूँ

कौन कहता है कि इंसान अकेला है यहाँ
मैं तो हर अजनबी को दोस्त बना देता हूँ

मेरा साया भी मिरी राह में साथी बन जाए
मैं हवाओं से भी रिश्ता निभा देता हूँ

जो गुज़रता है मिरे दिल पे, कहाँ कहता हूँ
बस ग़ज़ल के लिए इक नया मिसरा उठा देता हूँ

‘शफ़क़’ कुछ और नहीं, दर्द का आईना हूँ,
जो भी देखे उम्मीद से, उसे शफ़ा देता हूँ

महफ़िल-ए-दुनिया: दुनिया की महफ़िल, संसार का जमावड़ा, साज़-ए-तरब: ख़ुशी का साज़, आनंद का वाद्य, शम’: दीया, दीपक, रौनक़-ए-बज़्म-ए-वफ़ा: वफ़ा की महफ़िल की चमक

ग़ज़लः 'रह-ए-यक़ीन'

प्रस्तावनाः

यह ग़ज़ल उस इंसान की कहानी है जिसने दूसरों से होड़ नहीं की, बस अपनी लगन, सब्र और यक़ीन से सफ़र तय किया।उसने जाना कि तेज़ चलने से नहीं, सही चलने से मंज़िल मिलती है। यह पैग़ाम है कि रफ़्तार से बड़ी ताक़त 'यक़ीन' की होती है जो गिर कर भी उठने की हिम्मत देता है।

ग़ज़लः 'रह-ए-यक़ीन'

न ज़ोर-आज़माई की, न किसी को गिराया है
मैंने ख़ुद से जंग जीती, फिर सफ़र बनाया है

जो तेज़-तर्रार थे वो आगे निकल गए थे
मगर हर मोड़ पर हमने नया हुनर अपनाया है

न शोहरतों की चाह थी, न भीड़ में शामिल हुए
जो हासिल आज है, सब्र ने ही सिखलाया है

वो जल्दबाज़ लोग अब मुश्किल रस्तों पे हैं ठहरे
हमें तो ईमान ने धीरे ही सही, आगे बढ़ाया है

नज़र जब मंज़िलों पर ठहरी, तो दिल न डोला
वहीं तक जा सके हम, जहाँ ख़ुदी ने पहुँचाया है

हर इक सफ़र में गर्द थी, हर मोड़ पर थी तन्हाई
मगर दिल की रौशनी में अपनी राह को पाया है

जो वक़्त की चाल से फिसले, वो शिकवा न करें
ये रस्ता उसी का है जिसने वक़्त को आज़माया है

शकेस्त-ए-राह ने मेरे हौसले को बल बख़्शा
मैं झुका, वक्त की आँधियों से ख़ुद को बचाया है

न देखा पीछे मुड़ के, न डर को साथी किया मैंने
हर ख़ामोशी में ख़ुद को इक पैग़ाम सुनाया है

जिन्हें मंज़िलों का शौक़ हो, वो सब्र भी रखे 'शफ़क़'
कि हर ग़रज़ का वक़्त इस जहाँ ने आज़माया है

रह-ए-यक़ीन: विश्वास का मार्ग
गर्द: धूल, कठिनाई
ग़रज़: उद्देश्य, मक़सद

ग़ज़ल: 'रूह-ए-वक़्त'

प्रस्तावना:

यह ग़ज़ल इंसान और वक़्त के दरमियान उस नाज़ुक राब्ते की तर्जुमान है, जहाँ माज़ी (अतीत) एक आईना है, और तक़दीर (नियति) उसकी परछाई। 'शफ़क़' ने ज़िंदगी की तफ़सीलात को रूहानी एहसास से पिरोया है जहाँ यादें, ख़्वाब, दर्द, उम्मीद और तग़य्युर (परिवर्तन) एक साथ गुफ्तगू करते हैं। हर शेर में वक़्त का एक लम्हा साँस लेता है, कभी हसरत के सन्नाटे में, कभी उम्मीद के उजाले में। यह ग़ज़ल इन्सान की जद्दोजहद, उसकी तन्हाई, और उसके भीतर की रूह-ए-सफ़र की दास्तान है।
यह ग़ज़ल, रूह-ए-वक़्त, इंसान के सफ़र की उस मंज़िल तक जाती है जहाँ हर जज़्बा, चाहत, दर्द, सब्र और उम्मीद एक तसवीर में ढल जाते हैं। यह सिर्फ़ बयान नहीं, बल्कि ज़िंदगी के तजुर्बे का तरन्नुम है। उम्मीद है कि यह हर पाठक के दिल में देर तक गूंजेगी।

ग़ज़ल: 'रूह-ए-वक़्त'

वो नज़रों से गुज़रना, फिर आँख ओझल हो जाना
हर लम्हा है इक क़िस्सा, और वक़्त का चल जाना

है दश्त-ए-तमन्ना भी क्या, ख़ाक का इक सहरा
आँखों की तलब है बस, मंज़िल से गुज़र जाना

इक रूह का रिश्ता है क्या, साँस की ये दौलत,
आवाज़ की सूरत है, ख़ामोशी में ढल जाना।

कुछ रंग मुहब्बत के यूँ दिल पे उतर आए
जैसे किसी तस्वीर का, ख़ुद-ब-ख़ुद उभर आना

हर शख़्स यहाँ महव-ए-सफ़र देखिए तो यारों
संसार की रिवायत है, आते ही बिछड़ जाना

ग़म और ख़ुशी दोनों ही, हैं ज़िंदगी के पहलू
है दर्द वâ◌ी सच्चाई, हँस कर भी संभल जाना

वो वक़्त नहीं आता है, वापस कभी लौट कर
बेकार है अफ़सोस में, हर रोज़ मचल जाना

किरदार अदा करना हर शख़्स को पड़ता है
आसाँ नहीं क़ौमों की, तक़दीर बदल जाना

हम ने भी बहुत चाहा, दुनिया को बदल डालें
लेकिन है बहुत दुश्वार, ख़्वाबों का अमल जाना

माना कि सहर होगी, इक रौशनी फैलेगी
आसान नहीं लेकिन, इस रात से निकल जाना

अल्फ़ाज़ की दौलत को तन्हा न समझ ऐ दोस्त
है काम ये शायर का, जज़्बात में बल जाना

हर हाल में 'अमन' रखना, इक हौसला ज़रूरी
क्या फ़ायदा फिर ग़म से, हर बात पे जल जाना

इक ज़ोर-ए-हक़ीक़त है ये, गर्दिश-ए-अय्याम
हर शाम का तक़ाज़ा है, सूरज का निकल जाना

माज़ी: अतीत
तक़दीर: भाग्य, नियति
दश्त-ए-तमन्ना: इच्छाओं का रेगिस्तान
सहरा: रेगिस्तान
रूह: आत्मा
महव-ए-सफ़र: यात्रा में मग्न
रिवायत: परम्परा
क़ौमों: जातियों, राष्ट्रों
ख़्वाबों का अमल: सपनों का साकार होना
सहर: भोर, सुबह
गर्दिश-ए-अय्याम: समय का चक्र
तक़ाज़ा: माँग, आवश्यकता
ज़ोर-ए-हक़ीक़त: सच्चाई की ताक़त

ग़ज़ल: 'सफ़र का इकरार'

प्रस्तावना:

यह ग़ज़ल एक ऐसे मुसाफ़िर की दास्तान है जो रास्तों में भटकता नहीं, बल्कि आत्मविश्वास और आत्म-सम्मान के बल पर ख़ुद रास्ता बन जाता है। वह विनम्र है मगर कमज़ोर नहीं, टूटता है पर बिखरता नहीं, अंधेरों से गुज़रकर अपनी हक़ीक़ी (वास्तविक) पहचान पाता है। यह ग़ज़ल आत्म-खोज और स्वाभिमान की पराकाष्ठा को बयां करती है। इसमें शायर ने अपने मज़बूत इरादों और फ़रेब-ए-दुनिया से बेज़ारी (विरक्ति) को बख़ूबी पेश किया है।

ग़ज़ल: 'सफ़र का इकरार'

मैं रास्ता हूँ फ़क़त, कोई मज़ार नहीं हूँ
उमीद-ए-ज़ीस्त का टूटता सहारा नहीं हूँ

ये मेरी सादगी है या मेरी खोज का जौहर
कि सज्दे में भी हूँ, फिर भी गिरफ़्तार नहीं हूँ

झुकना मेरी फ़ितरत है, मेरा अंदाज़ है ये
मगर ज़ालिम के आगे मैं लाचार नहीं हूँ

हर इम्तिहान में जलता रहा हूँ चराग़ों की मानिंद
मैं टूट सकता हूँ लेकिन मैं हार नहीं हूँ

ग़मों के शहर में किसको मिली है राहत-ए-क़ुर्ब
मैं अश्क तो बहाता हूँ पर बेज़ार नहीं हूँ

ख़ुदी की रौशनी में कटी हैं रातें मेरी
अब अपने ही सफ़र से ना-आश्ना नहीं हूँ

समझ लिया है मैं ने फ़रेब-ए-दौर-ए-हयात
जो रस्मों-रिवाज़ के हैं, वो ख़ुद्दार नहीं हूँ

जहाँ ज़रूरत पड़ी मैंने ख़ुद ही राह बनाई
मैं मोहताज किसी और के इशारा नहीं हूँ

ख़ुदा के फ़ज़्ल से रखता हूँ हौसले का दिया
मैं आँधियों से डरने वाला ख़ुमार नहीं हूँ

ख़ुदी से मिल गया हूँ अंधेरों की बेपनाह में
जो अब मैं खो भी जाऊँ तो किरदार नहीं हूँ

'शफ़क़' मैं आईना हूँ सभी को सच दिखाता हूँ
जो ज़ख़्म देता हूँ किसी को, वो वार नहीं हूँ

मज़ार: मक़बरा, समाधि
जौहर: असली क्षमता , प्रतिभा
गिरफ़्तार: क़ैद , बंधा हुआ
इम्तिहान: परीक्षा
क़ुर्ब: निकटता , पास होना
बेज़ार: ऊबा हुआ , असंतुष्ट
फ़रेब-ए-दौर-ए-हयात: ज़िंदगी के दौर का धोखा
ख़ुद्दार: स्वाभिमानी
मोहताज: ज़रूरतमंद
फ़ज़्ल: कृपा
ख़ुमार: नशा , मादक असर (यहां इसका अर्थ है - किसी के असर में होना)

ग़ज़ल: 'माजरा क्या है'

प्रस्तावना:

इंसान उम्र भर सफ़र करता है-राहों पर भी और अपने भीतर भी। हर पड़ाव पर एक नया सवाल जन्म लेता है। कभी हम आईने में अपना ही अजनबी चेहरा देखते हैं, कभी दिल की धड़कनों से कोई अनकहा राज़ फिसलता महसूस होता है। यह ग़ज़ल उसी तफ़क्कुर (गहरी सोच) और तज्स्सुस (खोज की बेचैनी) की परवाज़ है जहाँ सफ़र सवाल बन जाता है और सवाल ही रास्ता।

ग़ज़ल: 'माजरा क्या है'

एक मंज़िल से गुज़र कर वो राही सोचता है 'ये दूसरा क्या है'
ज़िन्दगी एक सफ़र ही तो सही फिर सफ़र के बाद रास्ता क्या है

जिसने देखा है आईना अक्सर उसकी आँखों में झूठ-सा क्या है
खुद से मिलकर ही सोचता है -मेरे चेहरे पे दूसरा क्या है

दिल की धड़कन में शोर है कैसा जिस्म के अंदर बोलता क्या है
आदमी ख़ामोश है लेकिन रूह में ये तलातुम-सा क्या है

रूह से एक रब्त तो है मगर ये तअल्लुक़ ही बे-सिरा क्या है
क़ालिब-ए-जिस्म टूट भी जाए फिर ये रिश्ता बचा हुआ क्या है

रात गहरी है ख़्वाब ओढ़े हुए नींद आँखों से रूठती क्यूँ है
चाँद आँगन में खिल गया फिर भी दिल में इतनी ख़लिश-सा क्या है

वक़्त के साथ बदलता रहता हूँ सोचता हूँ ये सिलसिला क्या है
मैं ही मैं हूँ कि कोई और भी है-दरमियाँ ये फासला क्या है

दर्द को मैंने छेड़ा नहीं फिर वो मुझसे बात करता है
कौन है जो धड़कनों के ज़रिये दिल में उतरा हुआ क्या है

ल़फ्ज़ चुप हैं मगर निगाहों में जाने कैसी गवाही है
ख़ामुशी ज़हन पर हावी क्यूँ है साज़ को ये हुआ क्या है

मैं हूँ या मेरा अक्स है मुझमें ‘अक़्ल’ कहती है ‘माजरा क्या है’
आँख खुलती है फिर भी हर सूँ धुंध है ये तमाशा क्या है

जब सफ़र ख़त्म होने को आया पूछा लोगों ने ‘रास्ता क्या है?’
शफ़क़’ ने सर झुका के इतना कहा -खुद को पाना ही मसअला क्या है

रब्त: संबंध
तअल्लुक़: रिश्ता
बे-सिरा: जिसका कोई सिरा न हो, उलझा
तलातुम: अंदरूनी उथल-पुथल
क़ालिब-ए-जिस्म: शरीर का ढाँचा
ख़लिश: कसक, हल्की पीड़ा
फ़ासला: दूरी
माजरा: मामला , रहस्य
मसअला: असली सवाल, पहेली

ग़ज़लः 'ज़रूरतों की गिरह'

प्रस्तावनाः

यह ग़ज़ल इंसानी रूह की उन परतों को छूती है जहाँ चाहतें, तन्हाई, ज़रूरतें और यादें, सब अपनी-अपनी जगह बाँधकर बैठी रहती हैं। इंसान अक्सर अपने दिल को समझाता है, थकाता है, समझौतों में ढालता है, मगर कुछ ज़रूरतें ऐसी होती हैं जो दिल की गहराइयों में गाँठ बनकर हमेशा के लिए ठहर जाती हैं। यह ग़ज़ल उसी रूहानी कश्मकश की दास्तान है , जहाँ तर्क भी है, तलब भी है, थकान भी है और उम्मीद की हल्की-सी रोशनी भी।

नज़्म की तरह बहने वाली यह ग़ज़ल रिश्तों और ज़रूरतों की महीन गिरहों को उधेड़ते हुए एक गहरी किन्तु सलीस रवानी पैदा करती है।

ग़ज़लः 'ज़रूरतों की गिरह'

दिल को समझाया था कि बस अब और नहीं चाहिए
पर ये ख़ुदगर्ज़ रूह फिर भी कुछ माँगती पड़ी है

कभी थे ख़्वाब भी, उम्मीद भी, दिलासे भी,
अब एक ख़ामोश रौशनी-सी बस जलती पड़ी है

हमने ऐ ज़िंदगी तेरी उलझनों के कई पेच खोले थे
मगर हर मोड़ पे उलझन नई थिरकती पड़ी है

हर रिश्तों ने अपने -अपने हिस्से की दुआएँ बख़्शीं
पर दिल के पास वही तन्हाई करवटें लेती पड़ी है

कई बार चाहा कि ये रूह दरिया-सी बह निकले
मगर हर लहर में तेरी याद ही चमकती पड़ी है

हमने वक़्त की आँखों में झाँककर देखा था
वहीं आँख अब सचाई की धूल से भरती पड़ी है

कभी कुछ लोग थे जो दर्द का हिस्सा थे हमारे
आज वही यादें चुपके से दवा-सी बनती पड़ी है

बमुश्किल हल्का किया था हमने ज़िंदगी का बोझ
वो ज़रूरतें 'शफ़क़' मगर दिल से लिपटी पड़ी हैं

ख़ुदगर्ज़ रूह: स्वार्थी मन, मन की वह परत जो अपनी इच्छा को छोड़ नहीं पाती
दिलासा: ढाढ़स, सहारा
पेच: जटिल मोड़
थिरकती: हल्की-सी उभरती, लगातार सक्रिय रहने वाली
रफ़ाक़त: साथ, निकटता
लहर: तरंग; यहाँ भावनाओं की उछाल
दवा-सी बनती: राहत देने वाली, मरहम की तरहs